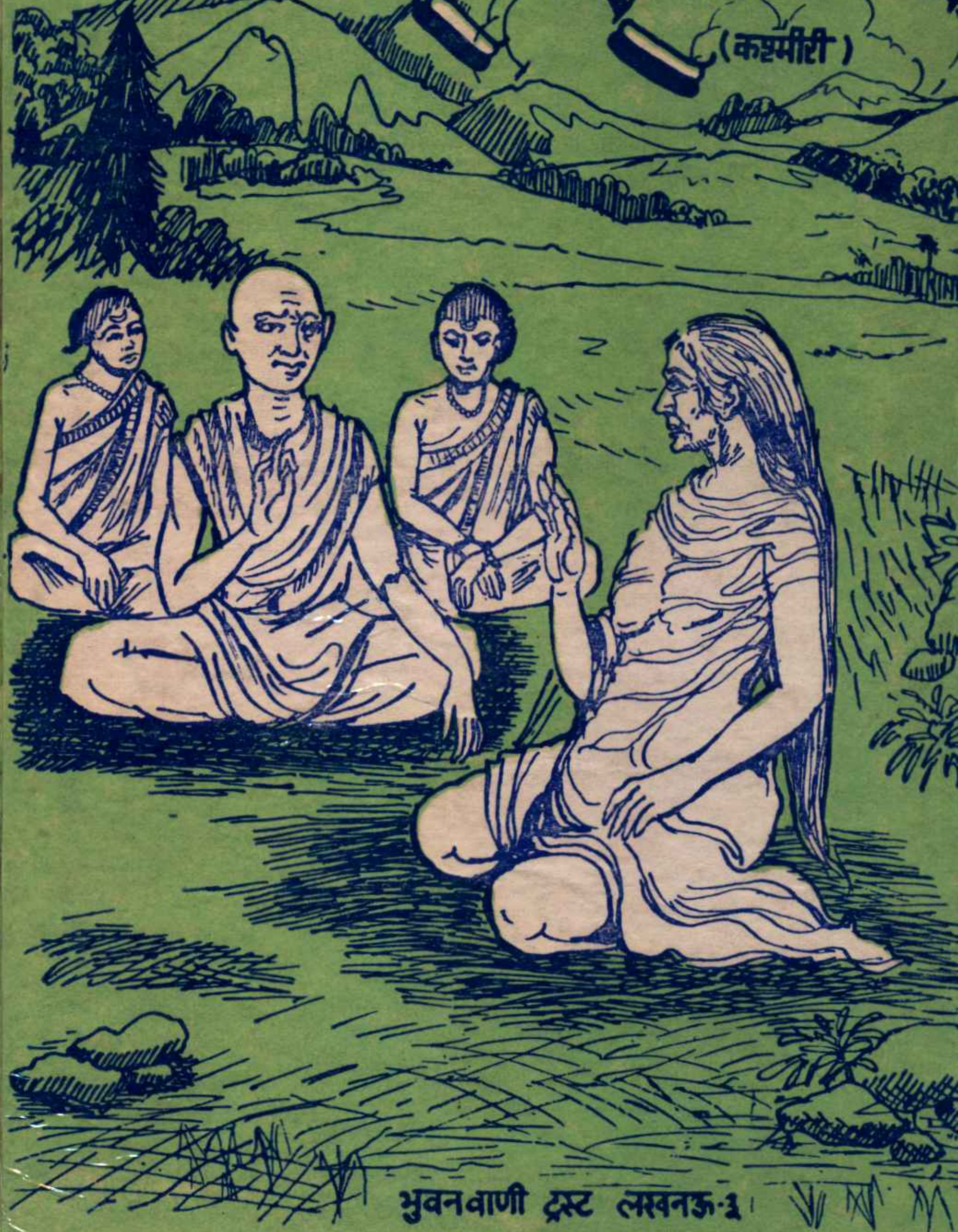
ललद्यद

(कश्मीरी)



भुवनवाणी ट्रस्ट लखनऊ-३

कश्मीरी

ललद्यद

(नागरी लिप्यन्तरण-सहित हिन्दी अनुवाद)

(१४ वीं शती)

मूल रचयिता

आदिकवयित्री ललेश्वरी

अनुवादक एवं लिप्यन्तरणकार

डॉ० शिबनकृष्ण रैणा

संस्कृत अनुवाद

आचार्य श्री रामजी शास्त्री

प्रकाशक

भुवन वाणी ट्रस्ट

मौसमबाग़ (सीतापुर रोड), लखनऊ – 226 020



प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक संत की बानी।
सम्पूर्ण विश्व में घर-घर है पहुँचानी॥

★ प्रथम संस्करण— 1977 ई०

★ आकार— डबलडिमाई— 1/16(18×22÷8)

★ पृष्ठ संख्या— 120

★ भेंट— 100/- रुपया

★ मुद्रक— वाणी प्रेस
मौसमबाग़ सीतापुर रोड,
लखनऊ - 226 020

★ Ph. No. 0522 - 2758508/2757516

भूमिका

एक दिन लखनऊ से भेजा गया एक पत्र मुझे मिला, जिसका सारांश यह था 'मैं कोटद्वार होते हुए दिल्ली जाना चाहता हूँ, ताकि आपसे मिल सकूँ।' प्रेषक थे श्रीयुत नन्दकुमार अवस्थी, जिनके शुभ नाम तथा महत्वपूर्ण काम से मैं तब तक बिल्कुल अपरिचित ही था और मैंने यह लिखकर उन्हें रोकने का प्रयत्न किया कि लखनऊ से तो दिल्ली का सीधा रास्ता है, व्यर्थ ही अपव्यय क्यों करते हैं; पर वे नहीं माने और अपने एक सहयोगी के साथ कोटद्वार पधारे।



श्री नन्दकुमार अवस्थी जी से मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, पर साथ-साथ लज्जा का भी अनुभव हुआ कि उनकी अद्भुत सेवाओं से मैं अब तक क्यों अपरिचित रहा ?

जब श्री अवस्थी जी ने ढाई सौ रुपये के मूल्य के १४ ग्रन्थ मुझे भेंट किये तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने उनसे निवेदन भी किया कि उनके ग्रन्थ मैं किसी पुस्तकालय से खरिदवा दूंगा, पर वे नहीं माने और केवल इतना ही कहा— "यदि आप अपने पास आने वालों को यह ग्रन्थ दिखला दिया करें, तो मेरे लिए यही पर्याप्त होगा।"

तब से मैं उनके उस आदेश का पालन करता रहा हूँ और नतीजा यह हुआ कि मेरे यहाँ पधारने वाले अनेक व्यक्ति भी मेरी तरह श्री अवस्थी जी के प्रशंसक बन गये हैं।

हमारा देश बड़ा विस्तृत है और उसमें अनेक भाषाओं के बोलने वाले व्यक्ति रहते हैं। उनमें पारस्परिक विचार-परिवर्तन के लिए किसी सम्पर्क भाषा की ज़रूरत थी और हिन्दी को वह गौरवपूर्ण स्थान मिल भी रहा है, पर उससे भी अधिक उपयोगी कार्य है समान लिपि का होना। जस्टिस शारदाचरण मित्र ने बहुत वर्षों पहले इसके महत्व को समझ

लिया था, पर वे उसे कार्यरूप में अधिक आगे बढ़ा नहीं सके। भाषाई सेतुबन्ध का यह पवित्र कार्य श्री नन्दकुमार अवस्थी जी ने सफलतापूर्वक किया है और उन्हें 'सांस्कृतिक इंजीनियर' की उपाधि दी जा सकती है।

मध्यम श्रेणी का यह परिवार आजादी की लड़ाई के फल-स्वरूप त्रस्त रहा। सन् ४२ में उत्तरप्रदेश और बिहार के क्रान्तिकारियों का इनके यहाँ नित्य का जमघट रहा। श्री अवस्थी के छोटे भाई श्री कृष्णकुमार अवस्थी (इस समय आयुर्वेदाचार्य बी. आई. एम. एस.) अपनी १६ वर्ष की अवस्था में ही डी. आई. आर. में जेल भेज दिये गये। ये स्व० श्री योगेशचन्द्र चटर्जी के विश्वस्थ अनुयायी थे। अन्त में आर्म्स एक्ट में इनको सजा हुई।

आजादी प्राप्त होने के बाद श्री अवस्थी ने लेखन-प्रकाशन का सफलता से काम चलाया। किन्तु सन् १९४७ से ही जन्मजात स्वभाव-वश भाषाई-सेतुबन्धन के राष्ट्रीय कार्य में लग गये और निजी प्रकाशन का काम धीरे-धीरे चौपट हो गया। बंगला कृत्तिवास रामायण और क़ुर्आन शरीफ़ के सानुवाद नागरी लिप्यन्तरण को पहले हाथ में लिया। अरबी क़ुर्आन की विशिष्ट ध्वनियों और शास्त्रीय पद्धति की नजाकतों के जटिल काम को नागरी लिपि में उतारने, उन अक्षरों और चिह्नों को गढ़ने और फिर ग्रन्थ को छापने में २० वर्ष लगे। यह लगभग एक पीढ़ी का समय है, जिसमें व्यक्ति कार्यक्षेत्र से प्रायः अवकाश प्राप्त कर लेता है। इस बीस वर्ष के कार्यकाल में आय का स्रोत बन्द हो जाने से श्री अवस्थी सपरिवार दयनीय आर्थिक संकट से गुज़रते रहे। किन्तु उनकी अनन्य निष्ठा और लगन ने कार्य को सर्वांग सफलता प्रदान की। क़ुर्आन के अरबी पाठ को किसी अन्य लिपि में लिप्यन्तरित करना इस्लामी धर्मशास्त्र को मान्य नहीं, और उनके पास इसके पक्ष में उचित आधार हैं। किन्तु श्री अवस्थी ने जिस ईमानदारी, अनन्यता और परिपूर्णता से इस कार्य को प्रस्तुत किया, उसके परिणाम-स्वरूप इस्लामी धर्माचार्यों और हिन्दी-अहिन्दी-भाषी समग्र जनता ने इस महत्वपूर्ण कार्य को आशातीत सम्मान प्रदान किया।

इस अपूर्व स्वागत से प्रोत्साहित होकर अब अवकाश लेने के बजाय, उन्होंने १९६९ ई० में 'भुवन वाणी ट्रस्ट' (पञ्जीकृत) की स्थापना करके विश्व की, और प्रमुखतः भारतीय भाषाओं के सत्साहित्य को नागरी लिपि में सानुवाद प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाया। और आज इस अल्प अवधि में विविध भाषाविदों के सहयोग से इतना विशाल सत्साहित्य जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया है जो सरकारी-गैरसरकारी संस्थाओं में भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। श्री अवस्थी निजी सारे साधनों को ट्रस्ट हेतु अर्पण करके, इस ७० वर्ष

पं० जियालाल कौल जलाली ने अपनी पुस्तिका "ललवाख" में ३८ वाखों का हिन्दी में अनुवाद किया है। जम्मू व कश्मीर कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित "ललद्यद" (१९६१) में लगभग १३५ वाख आकलित हैं। इस पुस्तक के सम्पादक श्री जियालाल कौल तथा श्री नन्दलाल तालिब हैं।

लल द्यद के "वाख" प्रायः छन्द-मुक्त हैं। चार-चार पादों के ये स्फुट 'वाख' लययुक्त हैं। इनमें कवयित्री ने जीवन दर्शन की गूढ़तम गुत्थियों को सहज-सरल रूप में गूँथ दिया है। लल द्यद के कृतित्व का परिचय पहली बार "तारीख-ए-कश्मीर" (१७३० ई०) में मिलता है। इसके पूर्व वह उपेक्षिता ही रही है। श्रीवर की "जैनराज तरंगिणी" तथा जोनराज की "जैनतरंगिणी" में भी उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वस्तुतः १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में लल द्यद के कृतित्व की ओर जनता का ध्यान गया और उसका विधिवत् महत्त्वांकन होने लगा।

लल द्यद के वाख-साहित्य का मूलाधार दर्शन है। उसका प्रत्येक वाख दार्शनिक चेतना का आगार है जिस पर प्रमुखतः शैव, वेदान्त, तथा सूफ़ी दर्शन की छाप स्पष्ट है। जिस समय लल द्यद का आविर्भाव हुआ उस समय कश्मीर में इस्लाम धर्म का एक विचार-पद्धति के रूप में आगमन हो चुका था। देश में घोर अशान्ति व धार्मिक अव्यवस्था व्याप्त थी। धर्मान्ध कट्टरपन्थी अपने-अपने धर्म-सम्प्रदायों का प्रचार प्रसार करने में दत्तचित्त थे। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विषमतायें भी जनता को आड़े हाथों ले रही थीं। ऐसे विकट क्षणों में लल द्यद ने जनता के समक्ष धर्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जनवाणी में परम सत्य की सार्थकता को ऐसी व्यापक तथा सर्वसुलभ संघटिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसमें न कोई दुराव था, न कोई आवरण, और न कोई विक्षेप। लल द्यद की यह सत्य-प्रतिष्ठा विशुद्धतः उसकी अन्तरानुभूति की देन है।

लल द्यद विश्वचेतना को आत्मचेतना में तिरोहित मानती है। सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा उस परमचेतना का आभास होना सम्भव है। यह रहस्य उसे अपने गुरु से ज्ञात हुआ था:—

गोरन दोपनम कुनुय वचुन,
न्यबर् दोपनम अंदर अचुन,
सुय मे ललि गोम वाख त वचुन,
तवय ह्योतुम नंगय नचुन ॥

गुरु ने मुझे एक रहस्य की बात बताई—बाहर से मुख मोड़ और अपने अन्तर को खोज। बस, तभी से यह बात हृदय को छू गई और मैं विवस्त्र नाचने लगी।

श्रान तय द्यान क्याह् सन करिय,
च्यतस रठ त्रकर्‌य वग ।
मनस तु पवनस मिलवन कर,
सहज़स मंज़ कर तिरथ स्नान ।। ३४ ।।

स्नानेन ध्यानेन कथं भविष्यति
कार्यस्य सिद्धिरवशीकृतात्मना ।
प्राणस्य मनसा सह योजनेन
सहजस्वरूपे कुरु स्नानमत्र ।। ३४ ।।

स्नान और ध्यान से भला क्या होगा ! तू अपने चित्त की लगाम को ज़रा मजबूती से पकड़ । मन और पवन को मिला दे तथा सहज (परम शिव) के तीर्थ में स्नान कर ।। ३४ ।।

पानस लॉगिथ रूदुख मेँ च़ु,
मेँ च़े छांडान लूसुम दोह् ।
पानस मंज़ येँलि ड्यूठुख मेँ च़ु,
मेँ च़े तु पानस च्युतुम छोह् ।। ३५ ।।

देहादिषट्कोशपिधानतस्त्वा-
मप्राप्य खिन्नास्मि चिरं महेश ।
उपाधिनिर्मुक्तविबोधरूपं
ज्ञात्वाद्य विश्रान्तिमुपागताऽहम् ।। ३५ ।।*

तुम मेरे भीतर छिपे रहे और मैं तुम्हें दिन-रात (बाहर) ढूंढती रही । (जिस दिन) तुम्हें अपने भीतर छिपा पाया (उस दिन से) मुझे अभिन्नत्व का बोध हो गया और मैं आनंदमग्न होकर झूम उठी ।। ३५ ।।

पर ताय पान यैम्य सोंम मोन,
येम्य ह्युव मोन द्यन क्योह राथ।
येम्यसुय अदुय मन सांपुन,
तमी ड्यूठुय सुरु गुरु नाथ ॥ ३६ ॥

आत्मा परो दिनं रात्रिर्यस्य सर्वमिदं समम्।
भातमद्वैतमनसस्तेन दृष्टोऽमरेश्वरः ॥ ३६ ॥*

जिसने पर और स्व को समान माना, जिसने दिन और रात को एक माना, जिसका मन अद्वय बन गया, उसी ने सुरगुरु नाथ (अमरेश्वर) के दर्शन किये ॥ ३६ ॥

ब्रोंठ कालि आसन तिथी केरन,
टंग च्रूँठ्य पपन च्रेरन सुत्य।
माजि कोरि अथुवास करिथ नेरन,
दौह द्यन बरन परद्यन सुत्य ॥ ३७ ॥

आगामि - कालस्य कुलक्षणं यत्
कालानपेक्षी फलपाकयोगः।
दास्यति स्वकन्यां परकामुकाय
जननी धनार्थं न जुगुप्सितं स्यात् ॥ ३७ ॥

आने वाले समय के (कलियुग के) लक्षण कुछ ऐसे होंगे कि नाशपातियाँ और सेब खूबानियों के साथ पकेंगे (यद्यपि दोनों भिन्न मौसम में पकते हैं) और माताएँ (अपनी) पुत्रियों के संग बाहों में बाहें डाले गैरों के यहाँ दिन बिताएँगी ॥ ३७ ॥

बान गौंल तॉय प्रकाश आव ज़ूने,
चं॑दुर गौंल तॉय मौंतुय च्यथ ।
च्यथ गौंल तॉय कें॑ह ति ना कुने,
गंय बूर बुवह सौंर व्यसरज़िथ क्यथ ।। ३८ ।।

भानौ नष्टे काशते चन्द्रबिम्बं
तस्मिन्नष्टे काशते चित्तमेव ।
चित्ते नष्टे दृश्यजातं क्षणेन
पृथ्व्यादीदं गच्छति क्वापि सर्वम् ।। ३८ ।।*

भानु (सूर्य) के गलने पर चन्द्रमा में प्रकाश आता है । चन्द्र के गलने पर चित्त प्रकाशित हो जाता है । चित्त के गल जाने पर कहीं कुछ नहीं रहता तथा 'भूर्भुवःस्वः' अस्तित्व-शून्य हो जाते हैं ।। ३८ ।।

कुस डिंगि तु कुस ज़ागि,
कुस सर वतरि तें॑लि ।
कुस हरस पूज़ि लागि,
कुस परमु पद मेलि ।। ३९ ।।

सुप्तः कः कः प्रबुद्धश्च
किं सरो यन्नु रिष्यति ।
किं वस्तु यद् हरस्यार्च्यं
प्राप्यं किं परमं पदम् ।। ३९ ।।

कौन सोया हुआ है और कौन जागा हुआ है ? वह कौन-सा सरोवर है जिससे बूंद-बूंद रिसती है ? वह कौन-सी वस्तु है जो हर (शिव) के लिए पूजनीय है ? वह कौन-सा परमपद है जो (साधनोपरान्त) प्राप्य है ? ।। ३९ ।।

मन डिंगि तु अकौल ज़ागि,
दांड्य सर पंचुयिंदरिय वतरि तेंलि ।
सौंव्यज़ार् पोन्य हरस पूज़ि लागि,
परमु पद ज़ेतनु शिव मेलि ॥ ४० ॥

सुप्तं मनो जागरणं तदात्मनः
सरो निरुद्धेन्द्रियपञ्चकं स्त्रवेत् ।
शिवाभिषेको हि जलेन तेन
शिवोपलब्धिर्हि परं पदं स्यात् ॥ ४० ॥

जब मन सो (तल्लीन हो) जाता है तो 'अकुल' अर्थात् अन्तरात्मा जागृत हो जाती है। सुदृढ़ रहने वाली पंचेन्द्रियों से उसपर स्वात्म-चिंतन के जल की पूजा होती है और तब शिव-चैतन्य का परमपद मिलता है ॥ ४० ॥

मंकरिस मल ज़न ज़ोंलुम मनस,
अदु लंबुम ज़ंनिस ज़ान ।
सु येंलि ड्यूठुम निशि पानस,
सोरुय सुय तु बु नो केंह ॥ ४१ ॥

चित्तादर्शे निर्मलत्वं प्रयाते
प्रोद्भूता मे स्वे जने प्रत्यभिज्ञा ।
दृष्टो देवः स्वस्वरूपो मयासौ
नाहं न त्वं नैव चायं प्रपञ्चः ॥ ४१ ॥*

जब मेरे मन-दर्पण की मैल धुल गई तो मुझे आत्म-ज्ञान हो गया तथा उसे (शिव को) अपने में ही स्थित पाया। मैंने देखा कि वही सब कुछ है और मैं कुछ भी नहीं ॥ ४१ ॥

कुस पुश तु कॊसु पुशॉनी,
कम कुसुम लॉग्यज़्यस पूज़े ।
कवु गॊड दिज़्यस ज़लुचि दॉनी,
कवु सनु मंतुरु शंकर स्वात्मु वुज़े ॥ ४२ ॥

कः पौष्पिकः कापि च तस्य पत्नी
पुष्पैश्च कैर्देववरस्य पूजा ।
कार्या तथा किं गडुकं विधेयं
मंत्रश्च कस्तत्र वद प्रयोज्यः ॥ ४२ ॥*

माली कौन ? और मालिन कौन ? कौन से कुसुम उसकी पूजा में चढ़ाओगे ? किस जल से उसका अभिषेक करोगे ? और वह मंत्र कौन-सा है जिससे स्वात्म-शंकर के लिए प्रयोज्य (अभिमंत्रण योग्य) है ? ॥ ४२ ॥

मन पुश तय यछ पुशॉनी,
बावुक्य कुसुम लॉग्यज़्यस पूज़े ।
शॆशि रसु गॊडु दिज़्यस जलु दॉनी,
छॊपि मन्तुरु शंकर स्वात्मु वुज़े ॥ ४३ ॥

इच्छामनोभ्यां ननु पौष्पिकाभ्या-
मादाय पुष्पं दृढभावनाख्यम् ।
स्वानन्दपूरैर्गडुकं च दत्वा
मौनाख्यमंत्रेण समर्चयेशम् ॥ ४३ ॥*

मन माली और जिज्ञासा मालिन । भाव-कुसुमों से उसकी पूजा करना । शशिरस (अमृत जल) से उसका अभिषेक करना और तब मौन रूपी मंत्र-जाप से स्वात्म-शंकर की आराधना करना ॥ ४३ ॥

मल वौंदि ज़ोलुम,
जिगर मोरुम ।
तेंलि लल नाव द्राम,
येंलि दंल्य त्राव्यमस तंत्य ॥ ४४ ॥

ततोऽत्र दृष्ट्वावरणानि भूयो
ज्ञातं मयात्रैव भविष्यतीति ।
भङ्क्त्वा यदा तानि च संप्रविष्टा
लल्लेति लोके प्रथिता तदाहम् ॥ ४४ ॥*

(जब) मैंने हृदय की सारी मैल जला डाली, जिगर (इच्छाओं) को भी मार डाला और उनके द्वार पर अंचल पसारे जमकर बैठ गई, तब कहीं जाकर मेरा लल नाम प्रसिद्ध हो पाया ॥ ४४ ॥

मारुख मारुबोथ काम क्रूद लूब,
नतु कान बंरिथ मारुनय पान ।
मनय ख्यन दिख स्व व्याञ्ञारु शम,
विशय तिहुंद क्याह क्युथ द्रूव ज़ान ॥ ४५ ॥

काम क्रोधादिकान् शत्रून्, नाशयात्मविनाशकान् ।
सद्विचारेण ते शान्ति गमिष्यन्ति न संशयः ।
विषयाः सन्ति के तेषां दृढं सम्यग् विचारय ।
एवं कृतप्रयत्नस्त्वं कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ४५ ॥

काम, क्रोध और लोभ घातक हैं, (रे मनुष्य !) इनको मारकर समाप्त कर दे, अन्यथा ये तुझे ही अपने तीरों से मार देंगे । इन्हें सुविचारों के खाद्य द्वारा शांत स्थिति में ले आ और उनके विषय क्या हैं, यह दृढ़ता से जानने की कोशिश कर ॥ ४५ ॥

मूड ज़ानिथ पशिथ ति कौर,
कौल श्रुत वौन ज़ड्रूफ आस।
युस यि दपी तस ती बोल,
यिहोय तत्वु विदिस छु अब्यास ॥ ४६ ॥

ज्ञात्वा सर्वं मूढवत्तिष्ठ स्वस्थः
श्रुत्वा सर्वं श्रोत्रहीनेन भाव्यम्।
दृष्ट्वा सर्वं तूर्णमन्धत्वमेहि
तत्त्वाभ्यासः कीर्तितोऽयं बुधेन्द्रैः ॥ ४६ ॥*

(रे मनुष्य ! तू) जानते हुए भी मूढ़ बन, देखते हुए भी चक्षुहीन बन, सुनते हुए भी बहरा बन और जागृत होते हुए भी जड़-रूप बन। जो जैसा कहे उसके साथ वैसा ही बोल। यही तत्त्वविद् का अभ्यास है ॥ ४६ ॥

यथ सरस सिरि फौल ना वेंज़ी,
तथ सरु सकली पोन्य च्यन।
मृग सृगाल गंड्य जलु हंसती,
ज़्यन ना ज़्यन तु तौतुय प्यन ॥ ४७ ॥

सरोवरे यत्र न सर्षपस्य
कणोऽपि मात्येव विचित्रमेतत्।
विबर्धते तत्पयसा समस्तं
यावत्प्रमाणं खलु देहिजातम् ॥ ४७ ॥*

(कैसी विडम्बना है कि) जो सरोवर चावल के एक दाने तक को अपने में समा नहीं सकता अर्थात् सुरक्षित नहीं रख सकता, उसी सरोवर के पानी से सबकी प्यास बुझती है। (मृग, शृंगाल, गैंडा और जलहस्ति आदि) सब इसी जल से उत्पन्न होते हैं और इसी में समा जाते हैं। (इस संसार में सब-कुछ नश्वर है) ॥ ४७ ॥

यवु तूर ज्ञलि तिम अम्बर ह्यता,
खयोँद यवु गलि तिम आहार अन ।
च्यता सौं परव्यज्ञारस प्यता,
च्यनतन यि देह वन कावन ॥ ४८ ॥

शीतार्थं वसनं ग्राह्यं क्षुधार्थं भोजनं तथा ।
मनो विवेकितां नेयमलं भोगानुचिन्तनैः ॥ ४८ ॥*

ठंड दूर करने के लिए अम्बर (वस्त्र) धारण करे; क्षुधा मिटाने हेतु आहार ग्रहन कर ले । रे चित्त ! किन्तु (जिससे तुझे आनंद की प्राप्ति हो) उस स्व और पर का विचार कर, चिंतन कर ले, नहीं तो अंत में तेरी यह देह वन्य कौओं का आहार बनेगी ॥ ४८ ॥

यि यि करुम कौरुम सु अरचुन,
यि रसनि व्यच्नोरुम ती मंथुर ।
योँहय लोँगमो दिहस परचुन,
सुय यि परमु शिवुन तंथुर ॥ ४९ ॥

करोमि यत्कर्म तदैव पूजा
वदामि यच्चापि तदेव मंत्रः ।
यदेव चायाति तथैव योगाद्-
द्रव्यं तदेवास्ति ममात्र तन्त्रम् ॥ ४९ ॥*

मैंने जो-जो कर्म किए वही मेरी अर्चना है, जो रसना (जीभ) से उच्चारित किया वही मेरे मंत्र हैं । देह से यदि कोई काम लिया तो वह था परिचय-प्रत्यभिज्ञा (यह ज्ञान कि परमेश्वर और जीवात्मा एक है); और वास्तव में, परम-शिव के तंत्र का सार भी यही है ॥ ४९ ॥

यिहय मातृ रूप पय दिये,
यिहय बार्यया रूप करि विशेश।
यिहय माया रूप अंति ज़ुव हेंये,
शिव छुय क्रूठ तु ज़्रेन वोंपदेश ॥ ५० ॥

भार्यारूपेण या नारी, तर्पयेन्नरवासनाम्।
मातृरूपेण सा नारी, वात्सल्यं वितनोति हि।
विपरीता तु माया सा, प्राणानपहरिष्यति।
शिवस्य दर्शनं न स्यादुपदेशं विचारय ॥ ५० ॥

(नारी की महिमा के सम्बन्ध में लल कहती है :—) मातृ-रूप में यह पय (दूध) पिलाती है, भार्या-रूप में विषय-वासना की तृप्ति करती है और अन्ततः माया रूप में प्राण हरण कर लेती है। शिव-प्राप्ति कठिन है, (रे मनुष्य !) इस उपदेश को तू सावधान होकर समझ ले ॥ ५० ॥

युस यि करुम करि प्यतरुन पानस,
अरज़ुन बरज़ुन बेंयिस क्युत।
अंति लागि रोंस्त पुशिरुन स्वात्मस,
अदु यूर्य गछि तु तूर्य छुस ह्योंत ॥ ५१ ॥

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं लभते फलम्।
नान्यस्तु फलभागी स्यात् स्वात्मैव फलभुग्भवेत्।
फलकामो न कुर्यान्निःस्पृहः कार्यमाचरेत्।
अर्पयित्वात्मने सर्वं कल्याणं लभते परम् ॥ ५१ ॥

जो जैसा कर्म करेगा उसका वैसा फल उसे भुगतना पड़ेगा। दूसरे उसमें भागीदार नहीं हो सकते। मनुष्य को चाहिए कि वह निःस्पृह होकर कर्मफल को स्वात्म (परमात्मा) के ऊपर छोड़ दे। फिर जहाँ कहीं भी जाएगा वहाँ उसका हित होगा ॥ ५१ ॥

हे गौरा परमेश्वरा,
बावतम ज्रेय छुय अन्तर व्योंद ।
दोशवय वोंपदान कंद्पुरा,
हह कवु तुरुन तु हा हा कवु तोंत ॥ ५२ ॥

गुरो ममैतमुपदेशमेकं
कुरुष्व बोधाप्तिकरं दयातः ।
हाः - हूः इमौ स्तः सममास्यजाता-
वुष्णोऽस्ति हाः किमथ हूः सुशीतः ॥ ५२ ॥*

हे मेरे गुरु-परमेश्वर ! आप अन्तर्यामी (सर्वज्ञ) हैं, अतः मुझे जरा यह समझाइए कि श्वास-प्रश्वास दोनों भीतर से उद्भूत होते हैं, मगर फिर भी हा ! हा ! गर्म क्यों और हू ! हू ! शीतल क्यों ? ॥ ५२ ॥

सोंय शिल पीठस तु पटस,
सोंय शिल छय प्रथिवोन देश ।
सोंय शिल ग्रबवुनिस ग्रटस,
शिव छुय क्रूठ तु ज्रेन वोंपदेश ॥ ५३ ॥

यथा शिलैकैव स्वजातिभेदात्
पीठादिनानाविधरूपभागिनी ।
तथैव योऽनन्ततया विभाति
कष्टेन लभ्यं शृणु तं गुरोः शिवम् ॥ ५३ ॥*

जो शिला पीठ (चौकी) में लगी है, वही सड़क पर भी है । जो शिला पृथ्वी-तल पर है वही शिला चक्की में भी शोभायमान है । (मूल-तत्व एक है पर स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखते हैं) इसी प्रकार शिवत्व का ज्ञान भी कठिन है, (रे मनुष्य !) इस उपदेश को तू सावधानी पूर्वक समझ ले ॥ ५३ ॥

रव मतु थलि थलि ताप्यतन,
ताप्यतन वौतम देश ।
वरुन मतु लूकु गरु अंच्रयतन,
शिव छुय क्रूठ तु च्रेन वोपदेश ॥ ५४ ॥

स्थले स्थले स्वैः किरणैर्यथा रविः
पतत्यभेदेन गृहेषु वाऽभ्रियम् ।
जलं तथा सर्वजगद्गृहेषु
कष्टेन लभ्यं शृणु तं गुरोः शिवम् ॥ ५४ ॥*

क्या यह संभव है कि रवि थल-थल को अर्थात् प्रत्येक स्थल को तापित (प्रकाशित) न कर केवल कुछ उत्तम (गिने-चुने) देशों (स्थलों) को ही तापित (प्रकाशित) करे। इसी प्रकार क्या यह संभव है कि वरुण (जल देव) प्रत्येक घर में प्रवेश किये बिना रह सकें। (अर्थात् जिस प्रकार सूर्य और वरुण बिना भेदभाव के सभी प्राणियों के लिए हितकारी हैं उसी प्रकार शिव भी सब का है, सब के लिए है।) बस, उसको समझना ज़रा कठिन है, यह उपदेश (बात) रे मनुष्य! तू जान ले ॥ ५४ ॥

राजस बाज्य येम्य करतल त्राज्य,
स्वरगस बाज्य छुय तफ ताय दान ।
संहज़स बाज्य येम्य गोरु कथ पाज्य,
पापु पोन्य बाज्य छुय पनुनुय पान ॥ ५५ ॥

यः खड्ग-हस्तः स लभेत राज्यं
करोति पुण्यं लभते स नाकम् ।
गुरूपदेशे शिवदर्शनं स्यात्
नरो हि हेतुर्निज-पाप-पुण्ययोः ॥ ५५ ॥

जिसने तलवार उठाई वह राज्य का भागीदार बना। जिसने तप और दान किया वह स्वर्ग का भागीदार बना। जिसने गुरुपदेश को आत्मसात् कर लिया वह सहज (परमात्म-दर्शन) का भागीदार बना। (दरअसल, इस संसार में) पाप-पुण्य के कारणों का भागीदार मनुष्य स्वयं है ॥ ५५ ॥

राज़ु हमुस आसिथ सपदुख कौलुय,
कुसताम ज्रौलुय क्याहताम ह्यथ।
ग्रटु गव बंद तय ग्रटन ह्यौत गौलुय,
ग्रटु वोल ज्रौलुय फल फौल ह्यथ ॥ ५६ ॥

भूत्वापि त्वं राजमरालरूपः
कथं स्वतः सम्प्रति मूकतां गतः।
कः सारमादाय गतस्त्वदीयं
यस्मान्निरुद्धं तव प्राणचक्रम् ॥ ५६ ॥

(अंतकाल आने पर) राजहंस के समान होने पर भी (रे मनुष्य!) तुम गूंगे हो गये। जाने कौन तेरे भीतर से क्या लेकर भाग गया! तेरी (जीवन रूपी) चक्की रुककर बंद हो गई और चक्कीवाला (अन्नादि के सदृश) चैतन्य रूपी फल लेकर भाग गया ॥ ५६ ॥

लल बो द्रायस कपसि पोशिचि संज़ुय,
कांड्य तु दून्य करनम यंज़ुय लथ।
तुयि येलि खारिनम ज़ाविजि तुये,
वोवुर्य वानु गंयम अलांज़ुय लथ ॥ ५७ ॥

कार्पास-पुष्प-कलिका-तुलनां दधाना
लल्लाहमत्र जगति प्रमुदा प्रफुल्ला।
हा हन्त! तत्र निष्पीडन-चक्र-पिष्टा।
पश्चाच्च चर्मतन्त्री-ध्वननेन ध्वस्ता ॥ ५७ क ॥

कणशो जर्जरा जाता पीड़ा-पीड़ित-दुर्भगा।
कुविन्दस्य गृहं प्राप्ता तन्त्रवाये विलम्बिता ॥ ५७ ख ॥

मैं लल उसी उमंग और चाव के साथ इस संसार में खिली थी जिस उमंग और चाव के साथ कपास के डण्ठल से फूल खिलता है। परन्तु बेलने की रगड़ और पिंजयारे (धुनिये) की धुनकी ने मेरी खूब गत बनाई और बारीक बनाते-बनाते मेरा कण-कण उखाड़ डाला। फिर जुलाहे के यहाँ पहुँचकर (करघे पर) मैं लटक गई ॥ ५७ ॥

लाचारि बिचारि प्रवाद कोंरुम,
नदोंर छुवु तु हेंयिव मा ।
फीरिथ दुबारु जान क्याह वोंनुम,
प्रान तु रुहुन हेंयिव मा ।। ५८ ।।

असूचयं करुणस्वरेण जीवान्
क्रेयं वृथा नश्वर-विश्व-पण्यम् ।
चेत्क्रीणने प्रीणनमात्मनस्ते
क्रेयाणि भो ! मानव-मानसानि ।। ५८ ।।

लाचार और बेचारा होकर मैंने आर्त्त पुकार की कि यह संसार अस्थिर है, इसे ख़रीदने की कोशिश मत करना। (अर्थात् इसमें मत फँसना)। साथ ही यह भी पुकारा कि ख़रीदना है तो प्राणियों के प्राणों (दिलों) को ख़रीद लो ! ।। ५८ ।।

वाख मानस कोंल अकोंल ना अते,
छोंपि मुदरि अति ना प्रवेश ।
रोज़ान शिव शेंखुथ ना अते ।।
मोंतियय कुँह तु सुय वोंपदेश ।। ५९ ।।

वाङ्मानसं च तन्मुद्रे शिवशक्ती कुलाकुले ।
यत्र सर्वमिदं लीनमुपदेशं परं तु तत् ।। ५९ ।।*

(रे मनुष्य !) वह (परमशक्ति) वाणी, मन तथा कुलीनता-अकुलीनता की सीमाओं से परे है। मौन-मुद्राओं का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। शिव और शक्ति भी वहाँ रहते नहीं हैं। (इन सबके अतिरिक्त) तुम्हारे पास जो शेष बचा है, वही परमोपदेश है ।। ५९ ।।

शिव शिव करान हमसु गथ सोंरिथ,
रूज़िथ व्यवहार्य द्यन क्योह राथ।
लागि रोस्त अदुय युस मन कंरिथ,
तस्य न्यथ प्रसन सुरु गोरु नाथ॥ ६० ॥

शिवं जपन्तो हृदि हंसगत्या
दिवानिशं ये परियापयन्ति।
कुर्वन्त आसक्ति-विहीन-स्वान्तं
तेषु प्रसन्नः सुरनाथ-शङ्करः॥ ६० ॥

शिव-शिव करते (जपते) तथा हंस गति (सोऽहम्) का ध्यान करते हुए जो दिन-रात व्यवहारी (गृहस्थ, संसारी) बना रहे और जो अपने मन को लाग रहित व द्वैत-शून्य बनाये, उसी पर सुरगुरुनाथ (परम शिव) नित्य प्रसन्न रहते हैं॥ ६० ॥

शिव वा कीशव वा जिन वा,
कमलजुनाथ नाम दारिन यियुह।
मे अबलि कास्यतन बवुरुज॥
सु वा, सुवा, सुवा, सु॥ ६१ ॥

शिवो वा केशवो वापि जिनो वा द्रुहिणोऽपि वा।
संसाररोगेणाक्रान्तामबलां मां चिकित्सतु॥ ६१ ॥*

(चाहे वे) शिव कहलाएँ, केशव कहलाएँ या जिन (तीर्थंकर) कहलाएँ। या फिर कमलजनाथ (ब्रह्मा) नाम धारण कर लें। चाहे वे कुछ भी कहलाएं, मुझ अबला को भवरुज (सांसारिक दुःखों) से मुक्ति दिला दें॥ ६१ ॥

सिद्ध मालि सिदो सेंद कथन कन थव,
चे दोंह पथ कालि सोरन क्याह।
बालको तोंह्य क्यथो ध्यन राथ बंरिव,
काल आव कुठान तु कंरिव क्याह ॥ ६२ ॥

गुरुवर्य ! धैर्यविधुरा विरहे त्वदीये
रात्रिंदिवं कथमतो परियापयेम।
कालस्य वीक्षण-क्षणे करवाम किंवा
बाला वयं किमपि बोधय बोधरूप ॥ ६२ ॥

हे सिद्धमौल गुरुजी ! मेरी सीधी-सी बात पर कान धरना। आपके बाद हम बालक अपने दिन-रात कैसे गुज़ारेंगे ? काल हमारी कठिन परीक्षा लेगा और भला तब हम क्या करेंगे ? ॥ ६२ ॥

ह्यथ कंरिथ राज फेरिना,
दिथ कंरिथ त्रपती ना मन।
लूब व्यना ज़ीव मरिना,
जीवंत मरि तांय सुय छुय ग्यान ॥ ६३ ॥

लब्ध्वापि राज्यं नहि तुष्टमन्तस्
त्यक्त्वापि राज्यं नहि शान्तिमेति।
लोभं विना नैव मृतिर्जनस्य
लोभं जहीतीह विवेकवृत्तिः ॥ ६३ ॥

(यह कैसी विडंबना है कि) राज्य (ऐश्वर्य के साधन) पाकर व उसका उपयोग करने पर भी मन तृप्त नहीं होता और राज्य त्यागने पर भी मन को संतुष्टि नहीं होती। (दरअसल, लोभ ऐसी चीज़ है कि) बिना लोभ के जीव मरता नहीं है (लोभ उसके साथ लगा रहता है) जीते जी मनुष्य मर जाए, वह इच्छा-लोभ को मार दे, यही ज्ञान की बात है ॥ ६३ ॥

हा मनशि ! क्याजि छुख वुठान सेंकि लूर,
अमि रटि हामालि पकी नु नाव ।
ल्यूखुय यि नारांन्य करमुनि रुखि,
ति मालि हेंकी नु फिरिथ काँह ॥ ६४ ॥

त्वं कथं सिकता-रज्जु-निर्माणे निरतो नर !
नातस्ते जीवनस्येयं नौका पारं गमिष्यति ।
ललाटे कर्मरेखां यामदान्नारायणः स्वयम्,
न सा साधनशून्यस्य लोपं यास्यति दुर्जया ॥ ६४ ॥

रे मनुष्य ! तू क्यों रेत की रस्सी बनाता (बटता) है ? इससे, रे भले मानस ! तेरी जीवन-नैया पार नहीं लग सकती । नारायण ने तेरी जो कर्म (भाग्य)-रेखा खींची है, वह कभी फिर (बदल) नहीं सकती ॥ ६४ ॥

अंँदरी आयस च्रंँदरुय गारान,
गारान आयस हिह्यन हिह्य ।
च्रुय हय नारान, च्रुय हय नारान,
च्रुय हय नारान, यिम कम विह्य ॥ ६५ ॥

चन्द्रमन्वेषमाणाऽहमन्तस्तो बहिरागता,
बहिरन्तर्न भेदोऽस्ति, त्वं नारायण ! दृश्यसे ।
सर्वत्र दर्शनं विष्णोः, सर्वगस्त्वं निरीक्ष्यसे,
नारायण ! विचित्रेयं लीलादेवी विराजते ॥ ६५ ॥

(ध्यान-योग में स्थित होकर) मैं अन्दर से (सब को प्रकाशित करनेवाले) चन्द्र को ढूंढते-ढूंढते बाहर आ गई । (अर्थात् अंतर्जगत् से बहिर्जगत् में आ गई) । (इस प्रक्रिया में) मैंने भीतर-बाहर दोनों को एक-जैसा पाया । दरअसल, हे नारायण ! तू ही सर्वत्र दिखा है मुझे । हे नारायण ! तू ही सर्वत्र दिखता है मुझको ! हे नारायण ! तेरी यह अद्भुत लीला कैसी विचित्र है ! ॥ ६५ ॥

अकुय ओमकार यस नाबि दरे,
कुम्बुय ब्रह्मांडस सुम गरे।
अख सुय मंथुर च्यतस करे,
तस सास मंथुर क्याह करे ॥ ६६ ॥

आ ब्रह्माण्डं नाभितो येन नित्य-
मोंकाराख्यो मन्त्र एको धृतोऽयम् ।
कृत्वा चित्तं तद्विमर्शैकसारं
किं तस्यान्यैर्मन्त्रवृन्दैर्विधेयम् ॥ ६६ ॥*

जो मात्र ऊँकार को नाभिस्थान में (ध्यानपूर्वक) धारण कर ले तथा कुम्भक (प्राणायाम की एक अवस्था) से उसे ब्रह्माण्ड तक पहुँचा दे और केवल इसी एक मंत्र (यानी ऊँ के जाप) को याद कर ले, उसे अन्य सहस्त्र मंत्रों (को याद करने) की क्या आवश्यकता है ? ॥ ६६ ॥

अछ्यन आय तु गछुन गछे,
पकुन गछे द्यन क्यो राथ।
योरय आय तु तूर्य गछुन गछे,
कैंह नतु कैंह नतु कैंह नतु क्याह ॥ ६७ ॥

जराऽऽगता क्षीणतरोऽद्य देहो
जातोऽवसायो गमनाय कार्य ।
समागताः स्मो यत एव तत्र
गन्तव्यमेवेह दृढं न किञ्चित् ॥ ६७ ॥*

(अनादि काल से) अविच्छिन्न गति से हम (इस संसार में) आते रहे और (यहाँ से) जाते रहे। (आवागमन का) यह चक्र दिन-रात चलता रहा है और चलता ही रहेगा। (रे मनुष्य !) तू अब यह प्रयत्न कर कि जहाँ से तू आया है, वहीं चला जा। (वहाँ से मुड़कर न आ)। (आवागमन के इस चक्र से) तुझे कुछ-न-कुछ सीख ले लेनी चाहिए ॥६७॥

शिव गुर ताय कीशव पलुनस,
ब्रह्मा पायद्यन वौलुस्यस ।
यूगी यूगु कलि परज़ान्यस,
कुस दीव अशवु वारु प्यठ चड्यस ॥ ६८ ॥

शिवोऽश्वः केशवस्तस्य पर्याणमात्मभूस्तथा ।
पादयन्त्रं तत्र योग्यः सादी क इति मे वद ॥ ६८ ॥*

शिव घोड़ा है और केशव काठी तथा ब्रह्मा पायदान की शोभा बढ़ा रहा है। केवल योगी योग-बल से पहचान सकता है कि कौन-सा देव इस अश्व पर चढ़कर सवारी कर सकता है! ॥ ६८ ॥

अनाहथ ख सौरूफ शुन्यालय,
यस नाव नु वरुन नु गुथुर तु रूफ ।
अहम विमरशि नादु बिन्दुय यस वौन,
सुय दीव अश्वु वारु प्यठ चड्यस ॥ ६९ ॥

अनाहतः खस्वरूपः शून्यस्थो विगतामयः ।
अनामरूपवर्णोऽजो नादबिन्द्वात्मकोऽस्ति सः ॥ ६९ ॥*

अनाहत-ओइम् जिसकी ध्वनि है, शून्य जिसका स्वरूप है (अर्थात् शून्यालय जिसका वास है), जिसका न नाम, न वर्ण, न गोत्र और न रूप है। आत्म-विमर्श से जिसे नाद-बिन्दु आदि का ज्ञान है, वही देवता (योगशक्ति वाला शहसवार) निर्गुण रूपी घोड़े पर चढ़कर सवारी कर सकता है ॥ ६९ ॥

अब्यास्य सविकास्य लयि वोथू,
गगनस सगुन म्यूल समि च्रटा ।
शुन्य गोल अनामय मोतू,
योहय वोपदीश छुय बटा ॥ ७० ॥

अभ्यासेन लयं नीते दृश्ये शून्यत्वमागते ।
साक्षिरूपं शिष्यते तच्छान्ते शून्येऽप्यनामयम् ॥ ७० ॥*

अभ्यास अर्थात् योगाभ्यास द्वारा जब विस्तार-विकास का लयीकरण हो जाता है यानी बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् एक हो जाते हैं, तब सगुण (ब्रह्माण्ड) और गगन (शून्य, निर्गुण) एक दिखने लग जाते हैं तथा शून्य भी नाम-शेष हो जाता है। बचा रहता है मात्र अनामय (रोग, शोक, उपाधि विहीन) शिव तत्त्व। हे पंडित! यही एक उपदेश है ॥७०॥

आमि पनु सोदरस नावि छस लमान,
कति बोजि दय म्योन मे ति दियि तार ।
आम्यन टाक्यन पोन्य ज़न शमान,
ज़ुव छुम ब्रमान गरु गछ़हा ॥ ७१ ॥

निस्सार-सूत्रेण विकर्षयन्ती, नावं स्वकीयां भवसागरादहम् ।
परं न जाने हि निभालयेत् कदा, पारं परं प्रापयति हृदीश्वरः ।
नो चेद् वृथा मे श्रम एव, नीरं यथाऽविपक्वेहिशरावपात्रे ।
तथापि गन्तुं प्रिय-सद्म सत्वरा सुविह्वला तत्र कदानु प्राप्नुयाम् ॥७१॥

कच्चे धागे से मैं अपनी नैया को भवसागर से खींचकर ले जा रही हूँ। जाने कब मेरे देव (ईश्वर) मेरी सुनेंगे और मुझे पार लगाएँगे। (मेरा यह परिश्रम वृथा जा रहा है) वैसे ही जैसे कच्चे मिट्टी के सकोरों में पानी टिकता नहीं है बल्कि सोख जाता है। मगर, इतना सब होते हुए भी मेरा जी मचल रहा है कि अपने घर (परमधाम) को चली जाऊं ॥ ७१ ॥

ओमकार येँलि लयि ओँनुम,
वुह्यय कोँरुम पनुन पान।
शेँवोँत त्राँविथ सथ मारुग रोँटुम,
तेँलि लल बोँ वाँत्रुस प्रकाशस्थान ॥ ७२ ॥

ओङ्कारमात्मसात्कर्तुं कायं प्रेमाग्निनाऽदहम्।
अतीत्य योगषण्मार्गान्, सप्तमं मार्गमास्थिता।
लल्लाहं तदा प्राप्ता, प्रकाश-स्थानमुत्तमम्।
दुर्लभं लब्धमस्माभिः कथञ्चित्शाश्वतं पदम्॥ ७२ ॥

ऊँकार को अपने में लय करने के लिए मुझे अपनी काया को (प्रेमाग्नि में) तपाना पड़ा। (योग के) छः मार्ग पार कर सातवाँ मार्ग (सहस्रार) पकड़ा और तब कहीं जाकर मैं 'लल' प्रकाश-स्थान तक पहुँच सकी ॥ ७२ ॥

ग्यानु मारुग छय हाकुवार,
दिज़्यस शमु दमु क्रेँयि पान्य।
लामा त्रंकरु पोँश क्रेँयि दार,
ख्यनु ख्यनु मोँत्री वारुय छेँन्य ॥ ७३ ॥

बोधस्य वाटिकां सिञ्च, शम-सत्कर्मवारिणा।
पूर्वार्जित कर्मभारोऽयं नश्येद् बलिपशुर्यथा।
अन्यथा नाशयेदस्या, वाटिकाया मनोज्ञताम्।
स एव पशुरागत्य शीघ्रं कार्या विचारणा॥ ७३ ॥

ज्ञान-मार्ग एक शाक-वाटिका है, (रे मनुष्य ! तू) इसे शम-दम और सत्कर्मों का पानी पिला। इस प्रकार तेरे पूर्व कर्मों का भार उस पशु की बलि की तरह चुक जाएगा जो साग-पात खाकर देवी की भेंट चढ़ जाता है। अन्यथा खा-खाकर एक दिन वाटिका में कुछ भी शेष न रहेगा ॥ ७३ ॥

ज़रमन ज़ंटिथ दितिथ पंन्य पानस,
त्युथ क्याह् वव्योथ तु फलिहीं सोव ।
मूडस वोंपदेश गंयि रींज़्य दुमटस,
कंन्य दांदस गोर आपरिथ रोव ।। ७४ ।।

चर्मणा कृतवान् रोधं, शरीरं शङ्कु-कीलितम् ।
न लब्धं फल-माधुर्यं बीजस्य वपनं विना ।
यथा प्रासादशिखरे स्वल्पलोष्ठस्य क्षेपणम् ।
यथा वृषाय गुडदानं, तथा ते बोधनं वृथा ।। ७४ ।।

अपने चर्म को काटकर तूने (रे मनुष्य !) अपने चारों ओर शरीर में खूंटे गाड़ दिए (कठोर साधना से अपने को कष्ट पहुँचाया) पर तूने अपने भीतर ऐसा कोई बीज नहीं बोया जिससे तुझे कुछ फल मिलता । अब तुझे समझाना वैसे ही निरर्थक है जैसे गुंबज पर कंकर फेंकना या बैल को गुड़ खिलाना ।। ७४ ।।

अंसी आंस्य तु अंसी आसव,
असी दोर कंर्य पतु वत ।
शिवस सोरि नु ज़्योंन तु मरुन,
रवस सोरि नु अत गत ।। ७५ ।।

पूर्वमास्म भविष्यामः पश्चादपि वयं सदा ।
अनादिकालाच्चंक्रमणं चर्यते न समाप्यते ।
शिवरूपस्य जीवस्य जननं मरणं तथा ।
तथा सूर्यस्य गमनं गगने न गमिष्यति ।। ७५ ।।

पहले भी हम ही थे और आगे भी हम ही होंगे । हमने ही अनादि काल से दौरे किये (चक्कर काटे) । शिव का जीना-मरना कभी समाप्त न होगा और न ही सूर्य का आना-जाना समाप्त होगा ।। ७५ ।।

त्रिदा नंदस ग्यानु प्रकाशस,
यिमव च्यून तिम ज़ीवंत्य मोखुत।
विशेमिस समसारनिस पाश्यस,
अबोद्य गंडाह शेत्य - शेत्य दित्य ॥ ७६ ॥

चिदानन्दो ज्ञानरूपः प्रकाशाख्यो निरामयः।
यैर्लब्धो देहवन्तोऽपि मुक्तास्तेऽन्येऽन्यथा स्थिताः ॥ ७६ ॥*

जिनको चिदानंद और ज्ञान के प्रकाश की अनुभूति हो गई वे जी कर भी मुक्त हैं। (किन्तु जिनको यह अनुभूति नहीं हुई) वे अबोध (मूर्ख) संसार के विषमपाश में सौ-सौ गाँठों के समान उलझते जाते हैं ॥ ७६ ॥

छांडान लूछुस पान्य पानस,
छेपिथ ग्यानस वोतुम ना कूंछ।
लय कंरमस तु वाचुस अलथानस,
बंर्य बंर्य बानु तु च्यवान नु कूंह ॥ ७७ ॥

स्वात्मान्वेषणयत्नमात्रनिरता श्रान्ता ततोऽहं स्थिता
तज्ज्ञानैकमहापदेऽतिविजने प्राणादिरोधात्ततः।
लब्ध्वानन्दसुरागृहं च तदनु दृष्ट्वात्र भाण्डान्यलं
पूर्णान्येव तथापि तत्र विमुखः प्राप्तो जनः शोचितः ॥७७॥*

उसे ढूँढते-ढूँढते मेरा तन-मन थक गया पर उस परम-ज्ञान को प्राप्त न कर सकी। जब मैं अपने 'स्व' में लय हो गई तब 'अलथान' अर्थात् ज्ञानरूपी मधुशाला में पहुँच गई जहाँ (मधु से) बर्तन भरे पड़े हैं पर पीता कोई नहीं है ॥ ७७ ॥

ज़ल थमुवुन हुतुवा तुरुनावुन,
ऊरगव मन पयरिव ज़रिथ।
काठु देनि दौंद श्रमावुन,
अनति सकौंल कपटु ज़रिथ ॥ ७८ ॥

नीरस्तम्भो वह्निशैत्यं तथैव
पादैस्तद्वद्‌व्योमयानमशक्यम् ।
दोहो धेनोः काष्ठमय्यास्तथैव
सर्वं चैतज्जृम्भितं कैतवस्य ॥ ७८ ॥*

बहते हुए जल को थामना, अग्नि को बुझाना, पैरों द्वारा ऊर्ध्वगमन (भूमि से ऊपर उठकर आकाश-मार्ग की ओर वायु में चलना), काठ की धेनु से दूध निकालना—ये सभी अन्ततः कपट-चरित हैं। (योग से चमत्कार दिखलाने वालों पर व्यंग्य) ॥ ७८ ॥

ज़ानुहा नाडिदल मन रंटिथ,
ज़ंटिथ, वंटिथ, कुटिथ, कलेश।
ज़ानुहा अदु अस्तु रसायन गंटिथ,
शिव छुय क्रूठ तु ज़ेन वौपदीश ॥ ७९ ॥

अज्ञास्यं वशीकर्तुं यदि नाडी - दलं तदा,
नश्येत् क्लेशः समर्था स्यां निर्मातुं रसायनम् ।
दुष्करा शङ्कर प्राप्तिरिति मे निश्चिता मतिः,
इदानीमिममुपदेशं, सावधानतयाभृणु ॥ ७६ ॥

यदि मैं नाड़ि-दल को वश में करना जानती, यदि यह जानती कि उसे कैसे काटूँ और समेटूँ, तो मेरा क्लेश मिट जाता और मुझे रसायन घोटने (आत्म-ज्ञान) का अनुभव हो जाता। शिव को पाना कठिन है, (रे मनुष्य ! तू) यह उपदेश सावधानी पूर्वक सुन ले ॥ ७९ ॥

जननि ज्ञायाय रुत्य ताय कंती,
कंरिथ वोंदरस बहू कलेश ।
फीरिथ द्वार बज़नि वात्य तंती,
शिव छुय क्रूठ तय च्रेन वोंपदेश ॥ ८० ॥

प्रसूवरं क्लेशयुतं विधाय
जातो मलात्तोऽप्यनुयाति सन्ततम् ।
यत्प्रेरितः सौख्यधिया नरः स्त्रियं
कष्टेन लभ्यं शृणु तं गुरोः शिवम् ॥ ८० ॥*

जननी से तू भला-चंगा जन्मा यद्यपि (तूने) उसके उदर (गर्भ) को बहुत क्लेश पहुँचाया । (वयस्क होने पर) तू फिर उसी द्वार की प्रतीक्षा करने लगा (कैसी विडंबना है !) शिव को पाना कठिन है, (रे मनुष्य ! तू) यह उपदेश सावधानी पूर्वक सुन ले ॥ ८० ॥

तंथुर गलि ताय मंथुर मोंच्रे,
मंथुर गोंल ताय मोंतुय च्यथ ।
च्यथ गोंल ताय कोंह ति ना कुने,
शून्यस शून्या मीलिथ गव ॥ ८१ ॥

तन्त्रं सर्वं लीयते मन्त्र एव
मन्त्रश्चित्ते लीयते नादमूलः ।
चित्ते लीने लीयते सर्वमेव
दृश्यं द्रष्टा शिष्यते चित्स्वरूपः ॥ ८१ ॥*

तंत्र (शास्त्र सम्मत तत्त्वांकन) निष्क्रिय सिद्ध हुआ तो मंत्र (जप-तप योगादि) सामने आया । मंत्र भी गला (निष्क्रिय सिद्ध हुआ) तो मात्र चित्त (चिन्मय तत्त्व) शेष रहा । चित्त भी जब मिट गया तो कहीं कुछ भी न रहा— शून्य के साथ शून्य मिल गया ॥ ८१ ॥

दमादम कौरमस दमन हाले,
प्रज़ल्योम दीफ तु ननेयम ज़ाथ ।
अंदर्युम प्रकाश न्यबर छ्रौटुम,
गटि रौटुम तु करमस थफ ॥ ८२ ॥

ततः प्राणादिरोधेन
प्रज्वाल्य ज्ञानदीपिकाम् ।
स्फुटं दृष्टो मया तत्र
चित्स्वरूपो निरामयः ॥ ८२ ॥*

(कुंभक द्वारा) मैं प्रतिपल दम (प्राण वायु) का निरोध करती रही। इस (अभ्यास) से मेरे अन्तर में ज्ञान रूपी दीप प्रज्वलित हुआ और मुझे अपनी असली ज़ात (स्थिति) का पता चल गया। तब अन्तर्प्रकाश को बाहर फैला दिया और उस (प्रकाश में प्राप्त सत्य) को मैंने दृढ़ता से थाम लिया ॥ ८२ ॥

द्वादुशांतु मंडल यस दीवस थजि,
नासिकु पवनुदार्य अनाहतु रव ।
सौयम कलपन अनति त्रजि,
पानय सु दीव तु अरच़ुन कस ॥ ८३ ॥

यो द्वादशान्ते स्वयमेव कल्पिते
सदोदिते देवगृहे स्वयं स्थितः ।
संप्रेरयन् प्राणरविं स शंकरो
यस्यात्मभूतः स कमर्चयेद् बुधः ॥ ८३ ॥*

जिसने द्वादशमण्डल (ब्रह्मरंध्र) को देवस्थान मान लिया हो, जिसने नासिक्य-पवन (प्राणायाम) से अनाहत स्वरूप को अनुभूत कर लिया हो, जिसके मन की सारी कल्पनाएँ (सांसारिक इच्छाएँ) दूर हो गई हों—वही तो देव है फिर भला वह किसका अर्चन करे ! ॥ ८३ ॥

दमन बसति दितो दम,
तिथय यिथु दमन खार ।
शेसतुरस सौन गछ़ी हासिल,
वुनि छय सुल तु छांडुन यार ॥ ८४ ॥

लौहकारेण तुल्यस्त्वं
धम प्राणान् स्वभस्त्रया ।
लौहे स्वर्णोपलाब्धिस्स्यात्
समयेऽभीष्टं विवेचय ॥ ८४ ॥

(रे मनुष्य ! तू) अपनी धौंकनी (फुंकनी) में हवा भर ले (योग साध ले), वैसे ही जैसे लुहार फूंकता है । ऐसा करने से लोहे में (तुझे) सोना हासिल होगा । अभी समय है, तू अपने इष्ट (यार) को ढूंढ ले ॥ ८४ ॥

प्रान तु रुहुन कुनुय ज़ोनुम,
प्रान बंज़िथ लबि नु साद ।
प्रान बंज़िथ कैंह ति नो खेंजे ।
तवय लौंबुम सूहम साद ॥ ८५ ॥

प्राणापानसमानादी-
नैक्ये सम्यगवेदिषम् ।
तान्निरुध्यापरोनापि
सोऽहं-स्वाद मवाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

मैंने प्राण और रुहन अर्थात् अपान, समान आदि को एक ही जाना । इन प्राणों के रहस्य को जानकर विधिपूर्वक उनका निरोध करने पर दूसरे मनुष्य भी क्यों न सोऽहम् रूपी स्वाद (आनंद) को प्राप्त करें ? ॥ ८५ ॥

पवन पूरिथ युस अनि वगि,
तस बौ ना सुपरशि न बौछि तु त्रेश ।
ति यस करुन अंति तगि,
समसारस सुय ज़ेयि नेछ ॥ ८६ ॥

यः पूरकेण चित्तं स्वं
रोधयेत्क्षुत्तृडादिकम् ।
न पीडयति संसारे
सफलं चास्य जीवितम् ॥ ८६ ॥*

जो पवन को पूरक (भीतर-बाहर खींचकर अर्थात् प्राणायाम) द्वारा नियंत्रित करे, उसको न भूख स्पर्श कर सकती है और न प्यास। जो अंत तक यह विधि अपनाये संसार में उसी का जीना सार्थक है ॥ ८६ ॥

यि क्याह् आसिथ यि कुस रंग गोम,
संग गोम च़्रटिथ हुदहुदने दिगे ।
सारेन्य पदन कुनुय वखुन प्योम,
ललि मे त्राग गोम लगु कमि शाठय ॥ ८७ ॥

कीदृगासीत् शरीरं मे, साम्प्रतं कीदृशं गतम् ।
प्रस्तरप्राय-हृदयं, कृन्तं हुद-हुद-पक्षिणा ।
तदा सम्पूर्णशास्त्रस्य, सार-सूत्रं समागतम् ।
तैलान्तराले निर्भिन्नो, वहन्माऽमृतनिर्झरः ॥ ८७ ॥

(स्वात्म-बोध में) मेरे शरीर के रंग का हाल क्या से क्या हो गया ! (आत्म-चिंतनरूपी) हुद-हुद (पक्षी-विशेष) की ठूंगों ने संग (पत्थर) जैसे मेरे हृदय को काट डाला। सभी पदों (वेद-शास्त्रादि) का सार एक ही सूत्र में सामने आ गया और मुझ लल के भीतर अमृत का सोता फूट पड़ा। अब सोच रही हूँ कि उसमें कहीं बह न जाऊँ ॥ ८७ ॥

यिमय शे च्रे तिमय शे मे,
श्यामु गला च्रे व्यन ताटुस ।
यौहोय ब्यन अंबीद च्रे तु मे,
च्रु श्यन सामी बो शैयि मुशुस ॥ ८८ ॥

यदेव षट्कं ते देव
तदेव च मम प्रभो ।
नियोक्ता त्वं नियोज्याहं
तस्यास्तीत्यावयोर्भिदा ॥ ८८ ॥*

हे श्यामगला (नीलकंठ) ! जिन छः (उपाधियों) से आप युक्त हैं, उन्हीं छः (उपाधियों) से मैं भी युक्त हूँ । बस, आपमें और मुझ में यदि कोई भेद है तो वह यह है कि आप छः के स्वामी हैं और मेरे छः मुझे लूट गए हैं । [यहाँ पर छः उपाधियों से तात्पर्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर अथवा पंचेन्द्रियाँ व मन से है] ॥ ८८ ॥

नाबिस्थानु छय प्रकरथ ज़लुवुनी,
हिडिस ताम येंती प्रान वतुगौत ।
ब्रह्मांडस प्यठु छय नंद्य वहवुनी,
हह तवु तुरुन तु हाहा तवु तौत ॥ ८९ ॥

नाभ्युत्थितो हाः जठराग्नितप्तो
हूः द्वादशान्ताच्छिशिरात्समुत्थः ।
हाः प्राणभूतोऽस्त्यथ हूः अपानः
सिद्धान्त एवं मुनिभिः प्रदिष्टः ॥ ८९ ॥

नाभिस्थान की प्रकृति में (जठराग्नि) जलती रहती है और वहीं से कंठ तक प्राण-वायु ऊपर आती है । ब्रह्मांड (शीर्षस्थल) में (प्राणापान रूपी) नदी प्रवाहमान है, इसीलिए हह ठंडा और हा-हा गर्म है ॥ ८९ ॥

शे वन च्रंटिथ शेशि कल वुज़ुम,
प्रकरथ होन्ज़ुम पवुनु सुती ।
लोलुकि नारु वांलिज बुज़ुम,
शंकर लोबुम तमी सुती ॥ ९० ॥

कामादिकं काननषट्कमेत-
च्छित्त्वामृतं बोधमयं मयाप्तम् ।
प्राणादिरोधात् प्रकृतिं च भक्त्या
मनश्च दग्ध्वा शिवधाम लब्धम् ॥ ९० ॥*

छः वन (शक्ति के छः चक्र) लाँघकर मैंने शशिकला को जगाया (अर्थात् सांसारिक बन्धनों को जब मैंने योगादि क्रियाओं से वश में कर लिया तब उस चन्द्रकला तक पहुँची जो परम-शिव का स्थान है) इसके लिए मुझे पवन (प्राणायाम) द्वारा अपनी प्रकृति को सुखाना पड़ा और प्रेमाग्नि (देवानुराग) से अपने कलेजे को भूनना पड़ा। तब कहीं जाकर मैं अपने शंकर को पा सकी ॥ ९० ॥

शील तु मान छुय पोन्य क्रेंजे,
मोंछि येंम्य रोंट मंल्य योंद वाव ।
होंस युस मसवालु गंडे,
ती यस तगि तांय सु अदु निहाल ॥ ९१ ॥

शीलस्य मानस्य च रक्षणं भटै-
स्तैरेव शक्यं निपुणं विधातुम् ।
वायुं करेणाथ गजं च तन्तुना
यैः शक्यते स्तम्भयितुं सुधीरैः ॥ ९१ ॥*

(रे मनुष्य ! सत्य-अन्वेषण के समक्ष) शील और मान का विचार टोकरी में जल भरने के समान (व्यर्थ) है। हाँ, जो वायु को मुट्ठी में कर सके तथा हाथी को एक बाल से बाँध सके—जिसे यह करना आये, वह अवश्य निहाल (आत्मज्ञान से समृद्ध) हो जाएगा ॥ ९१ ॥

समसारस आयस तपसुय,
बौदि प्रकाश लौबुम संहजु ।
मर्यम नु कुँह मरु नु कांसि,
मरु नेंछ तु लसु नेंछ ॥ ९२ ॥

आसाद्य संसारमहं वराकी
प्राप्ता विशुद्धं सहजं प्रबोधम् ।
म्रिये न कस्यापि न कोऽपि मे वा
मृतामृते मां प्रति तुल्यरूपे ॥ ९२ ॥*

संसार में मैं तप करने को आई और बुद्धि-प्रकाश से सहज (स्वात्म-बोध) को पा लिया। (देशकाल, माया-मोह आदि के बंधनों से मैं मुक्त हो चुकी) न मेरा कोई मरेगा और न मैं ही किसी के लिए मरूंगी। (स्थिति ऐसी हो गई है कि) मरूँ तो वाह ! जीवित रहूँ तो वाह ! (स्वात्म-बोध जीवन और मृत्यु की सीमाओं से परे है) ॥ ९२ ॥

संत्रसस नु सातस पंत्रसस नु रुमस,
सौंमस मे ललि पननुय वाख ।
अंदर्युम गट्कार रंटिथ तु वौलुम,
च्रंटिथ तु द्युतमस तती चाख ॥ ९३ ॥

बालाग्रं सूचिकाग्रं वा
नाहं पश्चाद्वर्तिनी ।
अन्तस्तमो गृहीतं तन् ।
मया दीर्णं क्षणान्तरे ॥ ९३ ॥

सूई के नोक व बाल जितना भी मैं कभी (परमात्म-प्राप्ति के लिए) पीछे न रही। मैंने अपने अन्दर के अन्धकार को पकड़ लिया और पकड़कर उसे चाक कर डाला। (अर्थात् तन्मय होकर मैंने अपने भीतर अज्ञान रूपी अंधकार को समाप्त कर डाला) ॥ ९३ ॥

संहज़स शम तु दम नो गछ़े,
येंछ़ि नो प्रावख मुख्ती द्वार।
सलिलस लवन ज़न मीलिथ गछ़े,
तोति छुय दौरलब संहज़ु व्यच़ार ॥ ९४ ॥

स्वभावलब्धौ न शमोऽस्ति कारणं
तथा दमः किं परं विवेकः।
नीरैकरूपं लवणं यथा भवेत्-
तथैकताप्तावपि नैष लभ्यः ॥ ९४ ॥*

सहज (आत्मबोध) शम और दम से प्राप्त नहीं होता और न ही मात्र इच्छा से मुक्ति-द्वार को पाया जा सकता है। सलिल में लवण घुल भी जाए तो भी सहज-विचार दुर्लभ है। (अर्थात् जीव और परमात्मा के तादात्म्य से तब तक कोई लाभ नहीं है जब तक कि सर्वशक्तिमान परम ब्रह्म का जीव पर अनुग्रह न हो) ॥ ९४ ॥

अथु मबा त्रावुन खरबा,
लूकु हुंज़ कौंगुवार खेंयी।
तति कुस बा दारी थर बा,
येंति नंनिस करतल पेंयी ॥ ९५ ॥

गर्दभोऽयं वशीकार्यः,
खादेत् केसर-वाटिकाम्।
त्वयि दण्डस्वरूपेण,
करवालः पतिस्यति ॥ ९५ ॥

(रे मनुष्य !) अपने हाथ से इस (मन रूपी) गधे को न जाने दे। (इसे वश में रख) यह (मूर्ख) लोगों की केसरवाटिका खा जाएगा और फिर तुझे दण्डस्वरूप तलवार की मार सहनी पड़ेगी ॥ ९५ ॥

गाफिलो हुकु कदम तुल,
वुनि छय सुल छांडुन यार।
पर कर पादा परवाज़ तुल,
वुनि छय सुल तु छांडुन यार ॥ ९६ ॥

त्वरस्व चरण-न्यासे
शेषः कालोऽयमल्पकः।
मार्गयस्व सखायं स्व-
मुड्डीनं कुरु पक्षिवत् ॥ ९६ ॥

रे गाफिल ! तू तेज़ कदमों से चल। अभी भी समय है, अपने यार को ढूंढ। तू पँख पैदा कर और परवाज़ कर। अभी भी समय है, अपने यार को ढूंढ ॥ ९६ ॥

गाल गंड्यन्यम बोल पंड्यन्यम,
दप्यन्यम ती यस यि रुचे।
सहज़ु कुसमव पूज़ कर्यन्यम,
बो अमुलान्य तु कस क्याह मूचे ॥ ९७ ॥

निन्दन्तु वा मामथ वा स्तुवन्तु
कुर्वन्तु वार्चा विविधैः सुपुष्पैः।
न हर्षमायाम्यथ वा विषादं
विशुद्धबोधामृतपानस्वस्था ॥ ९७ ॥

चाहे कोई मुझे गाली दे या बुरा-भला कहे। जिसे जो रुचे, मुझे कहे। चाहे तो कोई मेरी सहज कुसुमों से पूजा करे। मगर इस सब का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि मैं अमलिन हूं ॥ ९७ ॥

च़्यथ नोंवुय च़ंदुरमु नोंवुय,
जलुमय ड्यूठुम नवम नोंवुय।
यनु प्यठु ललि में तन मन नोवुय,
तनु लल बो नवम नंवुय छस ॥ ९८ ॥

शरीरमन्तः परिमार्जितं यदा,
लल्लापि नव्या नवमेवसर्वम् ।
अन्तर्गतां जलमयीं प्रकृतिं च चित्तं,
चन्द्रं च चारुकिरणं गगने व्यपश्यम् ॥ ६८ ॥

चित्त नया और चन्द्रमा भी नया। भीतर की जलमय प्रकृति को भी नित्य नया ही देखा। जब से 'लल' ने तन-मन को माँजा तब से लल भी नयी की नयी ॥ ९८ ॥

च़्यथ अमरपथि थंव्यज़ि,
ति त्रोंवुथ लगिय ज़ुड्य।
तति च़ु नो शींक्यज़ि सन्दार्यज़ि,
दोंदु शुर्य तु कोंछि नो मुड्य ॥ ९९ ॥

योजय मनोऽमरपथे कुपथं न गच्छेत्
शीघ्रं विधेहि स्ववशे न विभेहि किञ्चित्
मातुर्जहाति न हठी शिशुरङ्कमेत्य।
तद्वन्मनो भवति निग्रह-ग्रन्थि-हीनम् ॥ ६६ ॥

(रे मनुष्य ! तू) अपने चित्त को अमर-पथ पर लगा दे। यदि उसे खुला छोड़ देगा तो फिर पुनः (अमर पथ से) जुड़ेगा नहीं। उसको वश में करने से तू जरा भी संकोच न कर क्योंकि वह एक (हठी) शिशु है जो (दूध पीने पर भी माँ की) गोद से उतरने का नाम नहीं लेगा ॥ ९९ ॥

मनस सुत्य मनुय गोंडुम,
ज्ञ्यतस रंटुम च्रोपार्‌य वग ।
प्रकुच्र सुतिय पौरुश वौलुम,
सर मे कौरुम लंबुम वथ ॥ १०० ॥

मनोहि बद्धं मनसा सहैव
कविका गृहीता चल-चित्त-वाजिनः ।
आवेष्ट्य सम्यक् पुरुषं प्रकृत्या
विचारणाया लब्धः सुमार्गः ॥१००॥

मैंने मन को मन के साथ बाँध लिया और चित्त की लगाम चारों ओर से पकड़ ली। पुरुष को प्रकृति से आवेष्टित कर लिया तब मुझे चिंतन का मार्ग प्राप्त हुआ ॥ १०० ॥

च्रलु ज्ञ्यता वौंदस बयि मोबर,
चोन च्रिथ करान पानु अनाद ।
च्रे को ज़ानुन्य ख्योंद हरि कर,
कीवल तसुंदुय तारुक नाद ॥ १०१ ॥

रे चित्त ! चिन्तां न विधेहि स्वस्मिन्
चिन्तां त्वदीयां कुरुते महेश्वरः ।
ज्ञानं न ते शं स कदा विधास्यति
त्वं केवलं नाम गृहाण तस्य ॥१०१॥

रे चंचल चित्त ! तू हृदय में भय को न भर (ला)। तेरी चिंता तो स्वयं अनादि कर रहे हैं। तुझे क्या मालूम कि कब वे तेरी क्षुधा (इच्छा) पूरी करेंगे। तू तो केवल उसके नाद (नाम) का जाप करता जा ॥ १०१ ॥

च्रयतु तौरुग गगनु ब्रमुवोन,
नमीशि अकि छ्रंडि यूज़नु लछ।
च्रेतनि वगि बौदि रॅटिथ ज़ोन,
प्रान अपान संदारिथ पखुच ॥ १०२ ॥

चित्ताभिधः सर्वगतिस्तुरङ्गः
क्षणान्तरे योजनलक्षगामी।
धार्यो बुधेन्द्रेण विवेकवल्गा-
नोदेन वायुद्वयपक्षरोधात् ॥१०२॥*

चित्त-रूपी तुरंग गगन में भ्रमण करने का आदी है (ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ व इच्छाएं करता है) तथा एक निमिष में लाखों योजन घूम आता है। जिसने बुद्धि और चेतनता (विवेक) रूपी लगाम से उसको वश में करना सीख लिया वही प्राण-अपान के चक्रद्वय को नियंत्रित करने में सफल होता है ॥ १०२ ॥

च्रयतु तौरुग वगि ह्यथ रौटुम,
च्रेलिथ मिलुविथ दशि नाड़ि वाव।
तवय शशिकल व्यगुलिथ वंछुम,
शुन्य शुन्याह मीलिथ गव ॥ १०३ ॥

नियन्त्रितः खलीनेन मया चित्त-तुरङ्गमः।
बद्धो नाडिकायुक्त श्वास-प्रश्वास-रज्जुभिः।
तदा शशिकला सम्यक्जाता पीयूषवर्षिणी।
एवं शून्येऽमिलच्छून्यमभेदो जीव-ब्रह्मणोः ॥१०३॥

मैंने चित्तरूपी तुरंग को लगाम देकर थाम लिया। फिर दशनाड़ियों के श्वासोछ्वास के साथ उसको बाँध दिया। तब कहीं शशिकला पिघली और शून्य में शून्य मिल गया ॥ १०३ ॥

दौंब्य यैलि छांवनस दौंब्य कनि प्यठ्य,
सज़ तु साबन मंछनम यंज़ुय।
सुच्य यैलि फिरनम हनि हनि कांज़ुय,
अदु ललि मे प्रावुम परमु गथ ॥ १०४ ॥

पूर्वं फेनिल-मेलनेनरजको मां प्रस्तरेऽपोथयत् ।
पश्चात् सौचिक-कर्तरी-कृतसिता गात्रेष्वहं समभवम् ।
एवं साधनशोधिता तनुरभूद् योग्या प्रियस्यार्पणे ।
धन्याऽहं निजजीवने दुर्लभां प्राप्तातु परमां गतिम् ॥१०४॥

(पहले) खूब साबुन और सोडा मलकर धोबी ने मुझे पत्थर पर पटक-पटक कर धोया। फिर दर्जी ने मेरे अंग-अंग में कैंची फिराई और तब कहीं जाकर मैं परमगति पा सकी ॥ १०४ ॥

पौंत ज़ूनि वंथिथ मौंत बोलुनोवुम,
दग ललुनावुम दयि सुंज़ि प्रहे।
लंल्य लंल्य करान लालु वुज़ुनोवुम,
मीलिथ तस मन श्रोच्योम दहे ॥ १०५ ॥

प्रातः प्रबुद्धा हि व्यवोधयं स्वं
परमार्थ-मार्गे चलमन्तरङ्गम् ।
ततः प्रियं श्रावित-लल्लनाम्ना
प्राबोधयं धन्यतमा हि जाता ॥१०५॥

(नित्य) रात्रि के अंतिम पहर में जागकर मैंने इस चंचल मन को बहुत समझा-बुझाकर परमार्थ की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रक्रिया में मुझे अपार पीड़ादि सहनी पड़ी। 'मैं लल हूँ', 'मैं लल हूँ' कहकर मैंने अपने लाल (प्रिय इष्ट) को जगाया और फिर उससे मिलकर मेरी यह देह पवित्र हो गई ॥ १०५ ॥

मनसाय मन बवसरस,
छोंर कूप नेरेंस नारुक छुख।
लेंका लेंख योंद तुल कोंटि,
तुलि तूलु तु तुल ना केंह ॥ १०६ ॥

मन एव मनुष्याणां भवसागर उच्यते।
वेला-विहीनादस्मात्तु दुर्वचोवडवानलः।
निर्गतो ज्वलन-ज्वालासंघात मुद्वमिष्यति।
तदा त्वं कृतयत्नोऽपि गणनाकरणेऽक्षमः ॥१०६॥

(रे मनुष्य ! तेरा यह) मन एक भव-सागर है। यदि इसे खुला छोड़ देगा (बाँधेगा नहीं) तो इसमें से गाली-गलौज (ईर्ष्या, द्वेष, वैर आदि) रूपी बड़वानल के फव्वारे छूटेंगे जिन्हें तू तोलना भी चाहे तो नहीं तोल सकता ॥ १०६ ॥

कामस सुतिय प्रय नो बंरुम,
क्रूदस ह्युतुम पवनुन फेश।
लूबस मूहस त्चरन चंटिम,
त्रशना च्रंजिम गंयस खोंश ॥ १०७ ॥

कामं न कामये किञ्चित् क्रोधाग्निर्निर्वापिता।
लोभस्य दुष्टमोहस्य चरणौ शातितौ मया ॥१०७॥क
एतावति कृते यत्ने तृष्णा निर्गता मम।
तदाऽहं सर्वभावेन जीवने मुदिताऽभवम् ॥१०७॥ख

मैंने काम के साथ प्रीति नहीं रखी, क्रोध को पवन से बुझा दिया, लोभ और मोह के चरण काट डाले तब मेरी तृष्णा मिट गई और मैं खुश हो गई ॥ १०७ ॥

यैम्य लूब मनमथ मद चूर मोरुन,
वति नाशय मारिथ ति लोगुन दास।
तमी संहजु ईश्वर गोरुन,
तमी सोरुय व्यौंदुन स्वास ॥ १०८ ॥

यो मारयित्वा मद-लोभ-कामान्
अभिमानशून्यः प्रभु-दास एव।
प्राप्तिस्तदाऽभूत् सहजेश्वरस्य
भूतिर्भवेद् भस्म-समानमेव ॥१०८॥

जिसने लोभ, मन्मथ (काम) और मद रूपी चोरों को मारकर उन्हें अपने रास्ते से हटा दिया तथा इतना-कुछ करने पर भी दास (निराभिमानी) बना रहा, उसने सहज-ईश्वर को पा लिया और फिर उसकी दृष्टि में सांसारिक सुख-वैभव राख समान हैं॥ १०८ ॥

लंलिथ लंलिथ वदय बो वाय,
चेता मुहुच पेयी माय।
रोज़ी नो पतु लोह लंगरुच छाय,
निजु स्वरूप क्याह मोठुय हाय ॥ १०९ ॥

रे चित्त ! रुद्यां त्वयि वार-वारम्
बद्धं त्वमस्मिन् दृढ-मोह-जाले।
किञ्चिन्न यास्यति त्वया सह लोकवस्तु
किं विस्मृतं निजस्वरूपमनूपरूपम् ॥१०९॥

रे चित्त ! तुझपर फूट-फूट कर रोऊं। तू (सांसारिक) मोह-माया में (बुरी तरह) उलझ जो गया। (तू शायद यह नहीं जानता कि अंतकाल में) यह लोह-लंगर (भौतिक सुख-वैभव) की छाया तक तेरा साथ न देगी। हा ! तू निज स्वरूप को क्यों भुला बैठा ? ॥१०९॥

लूब मारुन संहज़ु व्यचारुन,
द्रोंग ज़ानुन कलपन त्राव।
निशि छुय तु दूर मो गारुन,
शून्यस शून्या मीलिथ गव ॥ ११० ॥

लोभं त्यक्त्वा वैमनस्यं च तद्वत्-
कार्यो नित्यं स्वस्वभावावमर्शः।
शून्याच्छून्यं नैव भिन्नं यथैवं
तस्मात्त्वं तद्भेदबुद्धिर्वृथैव ॥११०॥*

(रे मनुष्य!) तू लोभ को मार (त्याग) दे और सहज (स्वातम) का विचार कर। (उस परम-ब्रह्म को प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है) अपितु उसे एक महंगा सौदा जान। इसलिए कल्पनाएँ करना छोड़ दे। वह तो तेरे निकट है, उसे अपने से दूर न ढूंढ। वह शून्य के साथ मिल जाने के समान है ॥ ११० ॥

बुथि क्या जान छुख वोंदु छुय कंन्य,
असलुच कथ ज़ाँह संनिय नो।
परान लेखान वुठ ओंगजि गंजिय,
अंद्रिम दुय ज़ाँह चंजी नो ॥ १११ ॥

दर्शने दर्शनीयस्त्वं,
हृदयं पाषाण-सन्निभम्।
यत्र सत्याङ्कुरो नैव,
शास्त्राधीतो विभेददृक् ॥१११॥

दिखने को तो तेरा चेहरा बड़ा सुन्दर है किन्तु हृदय पत्थर के समान है, जिसमें सत्य की बात कभी समायी नहीं। पढ़ते-लिखते तेरे होंठ व उंगलियाँ घिस तो गईं किन्तु तेरे अन्दर की दुय (द्वैत भावना) दूर नहीं हुई ॥ १११ ॥

हचिवि हांरिंजि प्यत्रिव कान गोम,
अबख छान प्योम यथ राजदाने।
मंजबाग़ बाज़रस कुलुफ-रौंस वान गोम,
तीरथ-रौंस पान गोम कुस मालि ज़ाने ॥ ११२ ॥

अहो काष्ठ-धनुस्तत्र, शरः शष्पविनिर्मितः।
निर्मातुं राजप्रासादं, कारुरज्ञः समागतः।
यथा पण्यगृहं हट्टे यन्त्रकेण विनास्थितम्।
शरीरं मामकं तद्वद् जानीयात्को मम स्थितिम् ॥११२॥

(भाग्य ने मेरे साथ खिलवाड़ किया) काठ के धनुष के लिए बाण मिला तो वह घास का। राजमहल के (निर्माण) लिए बढ़ई मिला तो वह भी मूर्ख। मेरी स्थिति तो बीच बाज़ार में ताले रहित दुकान जैसी हो गई है। देह मेरी तीर्थ-विहीन ही रही। मेरी यह विवशता कौन जान सकता है! ॥ ११२ ॥

हा च्यता कवु छुय लोगमुत परमस,
कवु गोय अपज़िस पज़्युक ब्रोंत।
नेश-बोज़ वश कोरनख पर-दरमस,
यिनु गछ्नु ज़्यनु मरनस क्रोंत ॥ ११३ ॥

रे चित्त! कस्मादसि मोहमग्नं
जानासि सत्यं त्वमसत्यमेव।
परधर्ममेत्य निजधर्म-विहीन! मूढ!
तस्मात्पुनः पतति हा! जन्मादि-चक्रे ॥११३॥

रे चित्त! तू क्यों आसक्ति में पड़ा हुआ है? क्यों झूठ में तुझे सच की प्रतीति होती है? तू दुर्बुद्धि के कारण परधर्मी बन गया है (अपने धर्म से च्युत हो गया है) तभी तो आवागमन और जन्म-मरण के चक्कर में फँसा हुआ है॥ ११३ ॥

तलु छुय ज़्युस तय प्यठु छुख नच़ान,
वन तु मालि क्यथ पच़ान छुय ।
सोरुय सोँबरिथ यैति छुय मौच़ान,
वन तु मालि अन क्यथु रोच़ान छुय ॥ ११४ ॥

निम्नस्थगर्तोपरि नृत्यकारिन्
कथं हि चित्तं रमतेऽत्र संगतम् ।
इहैव सर्वं परिहाय गच्छेः
कथं पुनस्ते स्वशनं हि रोचते ॥११४॥

तेरे नीचे खाई है और तू उसके ऊपर नाच रहा है । भला तेरा मन इस स्थिति से समझौता कैसे कर रहा है ? सब कुछ इकट्ठा कर बाद में यहीं छोड़ देना है, (इस बात को जानते हुए भी) भला तुझे अन्न कैसे रुचता है ? ॥ ११४ ॥

दिल किस बाग़स दूर कर गासिल,
अदु फ़्वलु फौलिय यँबुरज़ल्य बाग़ ।
मंरिथ मंगनय वुमरि हुंज़ हासिल,
मोत छुय पतु पतु तहसीलदार ॥ ११५ ॥

चित्तोद्यानाद् यथाशीघ्रं कत्तृणं कुरु दूरतः ।
तदा हेमलतायाश्च प्रसरेत् पुष्प-सौरभम् ।
यत्कृतं जीवने किञ्चित्, तत्कृते मरणान्तरे ।
प्रश्नो विधास्यते सम्यक्, पश्चात्मृत्युर्गमिष्यति ॥११५॥

दिल के बाग़ से झाड़-झंखाड़ निकाल फेंक तब कहीं नरगिस के फूल उस बाग़ में खिलेंगे । मरने के बाद तुझसे, उम्र भर में तू ने जो हासिल किया है, उसका हिसाब मांगा जाएगा और मौत मानो तहसीलदार की तरह तेरा पीछा करेगी ॥ ११५ ॥

परान परान ज़्यव ताल फंजिम,
च्रे युग्य क्रय तंजिम न ज़ांह ।
सुमरन फिरान न्योंठ तु ओंगजि गज्यम,
मनुच्य दुय मालि च्रंजिम नु ज़ाँह ।। ११६ ।।

अधीयाना चिरान्नाभूत, तव योग्या हि योग्यता ।
अभूच्च सर्वथा दुःखम्, जिह्वा-तालु-विशोषणम् ।
माला मावर्त मानाया, अङ्गुष्ठ-कर-वल्लरी ।
छिन्ना जाता परं नैव, गता द्वैताभिभावना ।।११६।।

पढ़ते-पढ़ते मेरी जीभ और तालु फट गये मगर तेरे योग्य कर्त्तव्य-विधि मेरी समझ में न आयी। सुमरनी (माला) फेरते-फेरते मेरा अँगूठा और उंगलियाँ गल गईं मगर मन की दुय (द्वैतभावना) फिर भी दूर न हुई ।। ११६ ।।

गौरस प्रुछाम सासि लटे,
यस नु कैंह वनान तस क्या नाव ।
प्रुछान प्रुछान थंचिस तु लूसुस,
कैंह नस निशि क्या ताम द्राव ।। ११७ ।।

सहस्रशो गुरुः पृष्टः
किं नामाज्ञातवस्तुनः ।
मौनेनैवसमाज्ञप्ता,
सर्वं वाचामगोचरम् ।।११७।।

गुरु से मैंने हज़ार बार पूछा कि जिसे 'कुछ नहीं' कहते हैं, उसका नाम क्या है ? पूछते-पूछते मैं थक गई और मुरझा गई। (अंत में) मैं यही समझी कि 'कुछ नहीं' से ही कुछ न कुछ निकला है ।। ११७ ।।

ज्ञालुन छु वुज़मलु तु त्रटय,
ज्ञालुन छु मंदिन्यन गट्कार।
ज्ञालुन छु पान पनुन कडुन ग्रटय,
ह्यत मालि संतूश वाती पानय ॥ ११८ ॥

विद्युत्प्रहार-प्रतिमा क्षमा मता
रवौ स्थिते नश्यति सा तमो यथा।
आत्मार्पणं पेषण-चक्रिकान्तरे
सा दुर्लभा प्राप्स्यति तुष्टि सेवनात् ॥११८॥

सहनशीलता बिजली और गाज समान, (कठोर परीक्षा व श्रम की वस्तु) है, सहनशीलता मध्यान्ह में अन्धकार के समान (असंभव सी बात) है। सहनशीलता अपने आपको चक्की में पीसने के समान है। (रे मनुष्य ! यदि तू) संतोष से काम ले तो वह (सहनशीलता) स्वयं मिल जाएगी ॥ ११८ ॥

लतन हुंद माज़ लार्योम वतन,
अंकिय हांवनम अंकिचिय वथ।
यिम यिम बोज़न तिम कोनु मतन,
ललि बूज़ शतन कुनिय कथ ॥ ११९ ॥

अन्वेषणे मे पदमांस-लिप्तो-
मार्गस्तथाऽहं न गता स्वलक्ष्यम्।
एकेन पन्थाः स व्यदर्शि, मोदते,
यस्तस्य संज्ञां शृणुयात्कदाचित् ॥११९॥क

शतशः सारशून्येषु,
सारमेकं मयाधृतम्।
लल्लाऽहं न पुनर्भ्रान्ति,
गमिष्यामि जगत्पथे ॥११९॥ख

(घूमते-फिरते) मेरे तलवों का मांस सड़कों से चिपक गया अर्थात् सत्यान्वेषण के लिए मुझे खूब कष्ट उठाने पड़े। (अंत में) एक (आत्मज्ञान) ने मुझे मार्ग-दर्शन कराया। जो उस (एक) का नाम सुनेंगे वे भला मतवाले क्यों न हो जाएँ। लल ने सौ बातों में से एक बात सार की निकाल ली ॥ ११९ ॥

ट्यौठ मौधुर तय म्यूठ ज़हर,
यस यूत छुनुख जतन बाव।
यैम्य युथ कौरुय कल तु क़हर,
सु तथ शहर वातिथ प्यव ॥ १२० ॥

तिक्तं मधुर-तुल्यं भो! मधुरं गरलायते।
येनाऽऽस्वादितं कष्टं, मधुरं सुखमाप्यते।
कृतमाराधनं येन, निष्ठया दृढया भृशम्।
स एव सफलीभूतः स्वस्य लक्ष्यस्य प्रापणे ॥१२०॥

(कभी-कभी) कड़वा मीठा और मीठा ज़हर (समान कड़वा) होता है। (इसलिए रे मनुष्य!) जिसने जितना कष्ट सहा (कटुता को चखा) और एक निष्ठा से आराधना की, वह अपने उद्देश्य (मंतव्य) को प्राप्त करने में सफल हो गया ॥ १२० ॥

तन मन गंयस बो तस कुनुय,
बूज़ुम सतंच गंटा वज़ान।
तथ जायि दारनायि दारन रंटुम,
आकाश तु प्रकाश कौरुम सरु ॥ १२१ ॥

मनसा कर्मणा वाचा निमग्ना ध्येय-चिन्तने।
तदैव तस्य देवस्य ध्वनिः कर्णपथंगतः ॥१२१॥क
धारणा विधृता स्वान्ते सर्व-तत्व मवेदिषम्।
गगनात्पातालपर्यन्तं स्थितस्य जगतस्तथा ॥१२१॥ख

जब तन-मन से मैं उसके ध्यान में खो गई तो मुझे सत्य की घण्टी बजती सुनायी दी। तब मैंने अपनी धारणा (शक्ति) को धारण (आत्मसात्) कर लिया और आकाश व पाताल (सर्वस्व) का रहस्य जान गई ॥ १२१ ॥

कतु छुख दिवान अनिने बछ़,
तुख अय छुख तु अँदरिय अछ़।
शिव छुय अंत्य तय कुन मो गछ़,
सहज कथि म्यानि कर तो पछ़॥ १२२॥

त्वमन्धवद् भ्राम्यसि लक्ष्यहीन-
स्तवान्तराले स्थित एव शंकरः।
नान्यत्र लभ्यं शिव-दर्शनं त्वया
विश्वासमातिष्ठ मदीयवाक्ये ॥१२२॥

(रे मनुष्य ! तू) क्यों अन्धे की तरह इधर-उधर टटोलता (हाथ-पाँव मारता) है। यदि तू बुद्धिमान है तो अन्दर की ओर उन्मुख हो जा। शिव वहीं पर हैं, अतः कहीं और न जा। मेरे इस सहज कथन पर तू विश्वास कर ॥ १२२ ॥

मूड़ो क्रय छय नु दारुन तु पारुन,
मूड़ो क्रय छय नु रछिन्य काय।
मूड़ो क्रय छय नु दीह संदारुन,
सहज व्यचारुन छुय वोंपदीश ॥ १२३ ॥

त्वदीय-कार्यं नहि काय-मार्जनम्
त्वदीय-कार्यं नहि काय-चिन्तना।
त्वदीय-कार्यं नहि कायभूषणं
त्वदीय-कार्यं सहजस्य चिन्तनम् ॥१२३॥

रे मूढ़ ! तेरा कर्तव्य सजना-सँवरना नहीं है। रे मूढ़ ! तेरा कर्तव्य अपनी काया की चिंता करना नहीं है। रे मूढ़ ! तेरा कर्तव्य अपनी देह को संभालना भी नहीं है। तेरे लिए तो सहज को विचारना ही उपदेश है ॥ १२३ ॥

लज़ कासी शीत न्यवारिय,
त्रन ज़ल करान आहार।
यि कं‍म्य वौंपदीश कौरुय बटा,
अच़ीतन वटस सच़ीतन द्युन आहार॥ १२४॥

स्वचर्मणा रक्षति ते शरीरं
करोति नित्यं तृण-वारि-भोजनम्।
परोपदेशिन् किमु हंसि चेतन-
मचेतनस्योपरि प्रस्तरस्य॥१२४॥

यह तेरी लज्जा को ढाँकता है (खाल, चमड़े आदि के रूप में), शीत से भी तेरी रक्षा करता है (ऊन आदि के रूप में) स्वयं तो (बेचारा) तृण-जल का आहार करता है। फिर यह उपदेश, रे पंडित! तुझे किसने दिया कि अचेतन पत्थर पर तू इस चेतन बकरे को बलि चढ़ा॥ १२४॥

दं‍छिनिस ओंबरस ज़ायुन ज़ानुहा,
सुदरस ज़ानुहा कं‍डिथ अठ।
मंदिश रूगियस वैद्युत ज़ानुहा,
मूडस ज़ांनिम नु प्रनिथ कथा॥ १२५॥

छेत्स्याम्यहं दक्षिण-जात-मेघान्
कर्तुं क्षमा सिन्धुजलस्य शोषणम्।
विमोचनं शक्यमसाध्यरोगत:
न मूढमुद्बोधयितुं समर्था॥१२५॥

दक्षिणी मेघों को भंग (छिन्न-भिन्न) भी कर सकती हूँ, सागर से जल को भी उलीच सकती हूँ, असाध्य रोग की चिकित्सा भी कर सकती हूँ किन्तु मूढ़ को (तत्त्वार्थ) नहीं समझा सकती॥ १२५॥

अव्यंज़ारी पोथ्यन छि हो मालि परान,
यिथु तोतु करान 'राम' पंजरस ।
गीता परान तु हीथा लबान,
पंरुम गीता तु परान छस ॥ १२६ ॥

पठन्ति ग्रन्थान् शुकवन्नरा वृथा
तथैव गीताऽध्ययन-प्रदर्शनम् ।
ज्ञानाय गीतामहमध्यगीषि
तथाप्यधीये न प्रदर्शनाय ॥१२६॥

अविचारी पोथियों (धर्मग्रन्थों) को वैसे ही पढ़ते हैं जैसे पिंजड़े में तोता 'राम-राम' रटता है। ऐसे लोगों के लिए गीता का पढ़ना मात्र एक बहाना (ढोंग है) गीता मैंने पढ़ी और पढ़ रही हूँ। (धर्म-ग्रन्थों के कथनों को पढ़कर उन्हें आत्मसात् करना ज्यादा महत्वपूर्ण है)।॥ १२६ ॥

परुन सौलब पालुन दौरलब,
सहज़ गारुन सिखिम तु कूठ ।
अब्यासकि गनिरय शासतुर मोंठुम,
ज़ीतन आनंद निश्चय गोम ॥ १२७ ॥

सुलभं हि पठनं नित्यं
दुर्लभं तस्य पालनम् ।
दुर्लभः सहजानन्दः
शास्त्रं विस्मृत्य प्राप्यते ॥१२७॥

पढ़ना सुलभ (आसान) है किन्तु उसका पालन करना दुर्लभ (कठिन) है। (इसी प्रकार) सहज (स्वात्म) को खोजना भी दुष्कर है। अभ्यास के घने कुहरे में जब मैं सारे शास्त्र भूल बैठी तब मुझे चेतन-आनंद की प्राप्ति हुई ॥ १२७ ॥

मंदछि हांकल कर छ्ययनेम,
येंलि ह्यडुन गेलुन असुन प्राव् ।
आरुक जाम् कर सन दज़्यम,
येंलि अंदर्युम खार्युक रोज़्यम वार् ।। १२८ ।।

लज्जा विश्रृङ्खला तत्र सम्यग् भवितुमर्हति ।
अपशब्दान् यदा क्षन्तुं शक्तिरन्तर्जनिष्यते ।।१२८।।क
लज्जा-जवनिका लग्ना ज्वलिष्यति क्षणान्तरे ।
यदाहि मन्मनो-वाजी ममायत्तो भविष्यति ।।१२८।।ख

लाज की साँकल तभी टूट सकेगी जब दूसरे के उलाहनों, हंसी-मज़ाक और अपशब्दों को सहने की मुझमें क्षमता आ जाएगी। दरअसल, लाज का यह पर्दा तभी जलेगा जब मेरे अन्तर्मन का स्वच्छंद घोड़ा मेरे वश में रहेगा ।। १२८ ।।

रुत तु क्रुत सोरुय पज़्यम,
कनन नु बोज़ुन अंछ्यन नु बाव् ।
ओरुक दपुन येंलि वोंदि वुज़्यम,
रतन दीप प्रज़ल्यम वरज़नि वाव् ।। १२९ ।।

कर्णद्वयं मे नश्रृणोत्वभद्रं, नेत्र-द्वयं पश्यतु नो विरूपम् ।
सहे सदाऽहं प्रियमप्रियं वा, कदा भवेज्जीवन मीदृशं मे ।।१२९।।क
यदात्मनः कर्षणमुद् भविष्यति,
बाधाशतंयद् विलयं गमिष्यति
ममान्तरे निःस्व-प्रभञ्जनेऽपि,
रत्नप्रदीपो ज्वलितो भविष्यति ।। १२९ ।।ख

भला और बुरा मुझे समभाव से सहना है। कान मेरे न बुरा सुनें और आँखें मेरी न बुरा देखें। हृदय में मेरे जब उधर का आह्वान (स्वात्म का आह्वान) उद्बुद्ध होगा तब मेरे भीतर अकिंचनता के प्रभंजन में भी रत्नदीप प्रज्वलित होगा ।। १२९ ।।

ल्यकु तु थांकु प्यठ शेरि ह्यच्रम,
न्यंदा सपनिम पथ ब्रोंठ तान्य ।
लल छ्यस कल ज़ाँह नो छ्ययनिम,
अदु येँलि सपनिस व्यपिहे क्याह ॥ १३० ॥

तिरस्क्रिया थूत्कृतिरप्रसह्या,
मया शिरोधार्यकृता समन्तात्
न निन्दया लल्लजनस्य बाधा
पूर्णे हि कुम्भे न विशेत् किञ्चित् ॥ १३० ॥

मैंने गाली-गलौज और थूक-फटकार को शिरोधार्य कर लिया। मेरी निंदा तो आगे-पीछे हुई है और होती रहेगी। मगर इससे मुझ लल की एकाग्रता में कभी व्यवधान नहीं पड़ा क्योंकि मेरी उपलब्धियों का घर तो पहले से ही भरा पड़ा है, उसमें और कुछ भला कैसे समा सकता है ? ॥ १३० ॥

कंद्यो ! करख कंदि कंदे,
कंद्यो ! करख कंदि विलास ।
बूगय मीठि दितिथ यथ कंदे,
अथ कंदि रोज़ि सूर न तु सास ॥ १३१ ॥

त्वं चेत् तनुं चिन्तयसि प्रमुग्ध!,
शरीर-सज्जां वितनोषि नित्यम् ।
चिनोषि चेद् भोग-विलास-साधनं,
हा हन्त! सर्वं भस्मी भविष्यति ॥ १३१ ॥

रे मनुष्य ! यदि तू हमेशा अपने तन की चिंता करता रहेगा, तन की ही साज-सज्जा में खोया रहेगा, तन के लिए भोग-विलास के साधन जुटाता रहेगा, तो यह जान ले कि तेरी इस-देह की कभी राख तक भी न बची रहेगी ॥ १३१ ॥

सौमन गारुन मंज यथ कंदे,
यथ कंदि दपान सौरूप नाव।
लूब मूह त्रलिय शब यियी कंदे,
यॆथ्य कंदि तीज़ तये सोर प्रकाश ॥ १३२ ॥

स्वस्मिन् गवेषय शिवंहि निजस्वरूपम्
कामादिदोषरहितं यदि मानसं ते
शोभिष्यते तवतनुर्विमला हि भानो
स्तेजस्विता विलसिता सर्वाङ्गमध्ये ॥ १३२ ॥

(रे मनुष्य !) तू अपने तन में ही सुमन (सच्चे मन) से उसे खोज जिसका तू स्वरूप है। तेरे मन से जब लोभ-मोह मिट जायेंगे तो तेरा यह तन सुशोभित होगा और तेज एवं सूर्य-प्रकाश से भास्वरित हो जाएगा ॥ १३२ ॥

नफसुय म्योन छुय हौंस्तुय,
अंभ्य हंसत्य मौंगनम गरि गरि बल।
लछि मंज़ सास मंज़ अखा लौंसुय,
न तु ह्यतिनम सारिय तल ॥ १३३ ॥

लुब्धं मनो मे गजराज-तुल्यं
परीक्षते तत् प्रतिवासरं माम्।
मृद्नाति सर्वांस्तु सहस्र-मध्ये,
कश्चिन्नरस्तस्य भयाद् विमुच्यते ॥ १३३ ॥

मेरा यह लोभी-मन हाथी समान है। यह हमेशा मेरे बल की परीक्षा लेता रहा है। इसके प्रभाव से लाखों, हजारों में एकाध बचा हो तो हो, नहीं तो इसने सबको रौंध डाला है ॥ १३३ ॥

ख्यन् ख्यनु करान कुन नो वातख,
न ख्यनु गछ़ख अहंकारी ।
सोंमुय खें मालि सोंमुय आसख,
समि ख्यनु मुच्ररनय बरुन्यन तारी ॥ १३४ ॥

भोगैर्नकिञ्चित्परिलभ्यते नर !
भोगोपलब्धौ कुरुषेऽभिमानम्
समस्थितस्तर्पय करणजात,
मुन्मुक्तद्वारो हि जनिष्यसे मुदा ॥ १३४ ॥

(रे मनुष्य ! तू) खा-खाकर (अत्यधिक सुख-वैभव का भोग करने पर) कहीं का नहीं रहेगा और न खाने पर (अपनी इच्छाओं का नितांत शमन करने पर) अहंकारी बन जाएगा (तुझे अपनी उपलब्धि का दंभ हो जाएगा) इसलिए तू समरूप में (न ज़्यादा न कम) अर्थात् वांछित मात्रा में अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर, इसी सब विधि से तेरे बंद द्वार खुल जाएँगे ॥ १३४ ॥

कुस मरि तय कसू मारन,
मरि कुस तय मारन कस ।
युस हर-हर त्राविथ गरु गरु करे,
अदु सु मरि तय मारन तस ॥ १३५ ॥

को नाम मृत्योर्वशगो भविष्यति
कः कस्य हन्ता भ्रममात्रमेव
हरं-हरं यो विस्मृत्य ब्रूयाद्
गृहं-गृहं तस्य वधो भविष्यति ॥ १३५ ॥

कौन मरेगा और किसको मारा जायेगा ? मरेगा कौन और मारेंगे किसको ? जो हर-हर (भगवान) को भूलकर घर-घर करेगा, वही मरेगा और उसी को मारा जाएगा ॥ १३५ ॥

गोंर शब्दस युस यछ पछ बरे,
ग्यानु वगि रटि च्यतु तोंरगस।
येंदरय शोंमिथ आनंद करे,
अदु कुस मरि तय मारन कस ॥ १३६ ॥

यस्यास्ति श्रद्धा गुरुप्रोक्त-शब्दे
ज्ञानस्य वल्गा हय-चित्त-रोधे।
वशे खजातं मुद् यस्य चित्ते,
न तस्य मृत्यु र्न च तस्य मारकः ॥ १३६ ॥

जो गुरु-शब्द पर आस्था और श्रद्धा रखे, ज्ञानरूपी लगाम से अपने चित्तरूपी तुरंग को काबू में रखे, जो इन्द्रियों को वश में करके आनंद-भोग करे, वह भला कैसे मर सकता है और उसे भला कौन मार सकता है? ॥ १३६ ॥

रंगस मंज छुय ब्योंन ब्योंन लबुन,
सोरुय च्रालख ब्रख तय सोंख।
च्रख रुश तु वार गालख,
अदु डेशख शिव सुंद मोंख ॥ १३७ ॥

नामानि रूपाणि बहूनि सन्ति,
विश्वस्य मञ्चे जगदीश्वरस्य।
द्वन्द्वं सहिष्ये न करिष्यसे घृणाम्,
तदाहि ते शंकर-दर्शनं भवेत् ॥ १३७ ॥

इस संसाररूपी रंगशाला में तुझे उस (ईश्वर) के विभिन्न नाम-रूप मिलेंगे। (इस वैभिन्न्य में उसे पा लेना ही बड़ी बात है) इसके लिए जब तू सुख-दुःख सह लेगा; घृणा, वैर, क्रोध आदि को मन से गला देगा तब तुझे शिवमुख के दर्शन होंगे ॥ १३७ ॥

लोलुकि नारु ललि लौंलि ललनोवुम,
मरनय मौयस तु रूज़ुस नु ज़रय,
रंग रैंछि ज़ातुसुय क्याह नु रंग गोम,
बो दपुन च्रोंलुम क्याह सन करे ॥ १३८ ॥

प्रेमाग्निक्रोडे तमलालयं यदा,
तदा मृताऽहं मरणात्पूर्वम्
जन्मक्षणे मे नहि जाति-रूप
महंविलीनेति नवीन-रूपम् ॥ १३८ ॥

प्रेम की अग्निरूपी गोदी में मैंने उसे (परम-तत्व को) डुलाया जिससे मरने से पूर्व ही मर गई। जन्मते समय तो मेरा न कोई रंग था और न कोई जाति किन्तु अब मेरे कई रंग हो गये हैं। 'मैं' कहना छूट गया, यह सबसे बड़ा रंग है ॥ १३८ ॥

व्रेशि बौंछि मो क्रेशनावुन,
यान्य छ्ययि तान्य संदारुन दिह।
फ़ठ चोन दारुन तु पारुन,
कर वौंपकारुन सौंय छय क्रय ॥ १३९ ॥

न पीडयाऽङ्गं क्षुधया पिपासया,
निभालय त्वं परिक्षीण-देहम्।
अलंव्रतैर्बाह्यप्रदर्शनैरलं
परोपकारं कुरु मुख्य-कार्यम् ॥ १३९ ॥

(रे मनुष्य ! तू) प्यास व भूख के मारे अपनी देह को न तड़पा। जैसे ही यह बुझने लगे (थकने लगे) वैसे ही इसे संभाल ले। तेरे व्रतोपवास धारने और बाह्याडंबर पालने पर धिक्कार है। परोपकार कर, वही तेरा (परम) कर्त्तव्य है ॥ १३९ ॥

ज़नुम प्राविथ वयबव नो छ्रोंडुम,
लूबन बूगन बोंरुम न प्रय।
सोंमुय आहार स्यठा ज़ोनुम,
च्रोलुम दोंख-वाव पोलुम दय ॥ १४० ॥

लब्ध्वा जनिं परिहृता बहुभोगतृष्णा
लोभेन भोगेन समं न मैत्री
मतं मया तन्मितभोजनं तदा,
प्राप्तः प्रभुर्दूरगतं च दैन्यम् ॥ १४० ॥

जन्म पाकर मैंने (कभी) वैभव (ऐश्वर्य-भोग) को नहीं ढूंढा (कभी उसकी चाह नहीं की)। लोभ और भोग से प्रीति नहीं रखी। समाहार को ही पर्याप्त माना। ऐसा करने से मेरा दुःख-दैन्य दूर हुआ और दैव को अपना बना लिया ॥ १४० ॥

रावनु मंज़य रोवुम,
रांविथ अथि आयस ववसरे।
असान गिंदान सहज़ुय प्रोवुम,
दपुनुय कोंरुम पानस सरे ॥ १४१ ॥

अहं विलीना स्वस्मिस्तथापि
विलीनभावस्य गतापि चेतना
विस्मृत्य सर्वं सहजं समागता,
ज्ञातोऽवबोधस्य शुभ-प्रकारः ॥ १४१ ॥

मैं (स्वात्म में इतना) खो गई कि यह भूल गई कि मैं खो गई हूँ तथा भवसागर में लीन हो गई। हँसते-खेलते मैंने सहज को प्राप्त कर लिया और इस प्रक्रिया को आत्मबोध का आधार बनाया ॥ १४१ ॥

लोलुकि वोँखलु वॉलिंज पिशिम,
कोँकल च़ॅजिम तु रूज़ुस रसु ।
बुज़ुम तु ज़ॉजिम पानस चुशिम,
कवु ज़ानु तवु सूत्य मरु किनु लसु ॥ १४२ ॥

प्रेमोलूखले सम्यक्, मया पिष्टं स्वमानसम्,
गता दुर्वासना शीघ्रं, शान्तभावेन संस्थिता ।
अग्नौ तद् हृदयं तप्त्वा, पश्चादास्वादितं मया,
न जाने कर्मणाऽनेन, मरणं वा जीवनं मम ॥ १४२ ॥

प्रीति की ओखली में मैंने अपने हृदय को पीसा (कूटा) जिससे मेरी कुवासना मिट गई और मैं शांतभाव से रहने लग गई। पश्चात्, मैंने इस हृदय को भूना-पकाया और उसको चखा। अब मैं यह नहीं जानती कि ऐसा करने से मैं मर जाऊँगी या जीवित रह जाऊँगी ॥ १४२ ॥

केंच़न दितिथम गुलालु यॅच़ुय,
केंच़न ज़ोनुथ नु दिनस वार ।
केंच़न छुनिथम नॉल्य ब्रह्म हॅच़ुय,
बगवानु चानि गॅच़ नमस्कार ॥ १४३ ॥

ददासि कस्मैचित्सुन्दरात्मजान्
किञ्चिन्न कस्मैचिद् यच्छसि त्वम्
हा, ब्रह्म-हत्या-सम-पुत्रिकाः क्वचिन्
नमामि भगवंस्तव चित्रलीलाम् ॥ १४३ ॥

कुछ को तुमने कई गुलेलाला दिए (अर्थात् पुत्र ही पुत्र दिए) और कुछ को कुछ भी न देना उचित जाना। कुछ के गले ब्रह्म-हत्याएँ (पुत्रियाँ ही पुत्रियाँ) मढ़ दीं। हे भगवान ! तेरी (अपरंपार) गति को नमस्कार है ॥ १४३ ॥

केंच्रन द्युतथम ओरय आलव,
केंच्रन रचायि नालय व्यथ।
केंच्रन अंछ्य लजि मसच्यथ तालव,
केंच्रन पपिथ गय हालव छ्यथ ॥ १४४ ॥

आहूतास्स्वयमेव केचिन्नराः— केचिद् वितस्तां रताः
केचित्ते मधुराभिधान-मदिरा मापीय मत्तास्तथा
तेषां दृष्टिरवस्थिता तव गृह प्रान्तोन्मुखी केचन
शलभा-भक्षित-नष्ट साधनकृषेः प्राप्ता न ते धामकम्॥ १४४ ॥

कुछ को (हे भगवान्!) तुमने स्वयं बुलाया (अर्थात् उन पर जन्म से ही ईश-कृपा हुई), कुछ ने वितस्ता नदी को गले लगाया (खूब संध्या-स्नान करने लगे) कुछ तुम्हारे नाम की हाला पीकर बौरा गये और उनकी नज़रें छत की ओर एकटक जम गईं और कुछ की पकी फसलें टिड्डियाँ खा गईं—तुम तक पहुँचते-पहुँचते भी रह गए ॥ १४४ ॥

केंच्रन रंनि छय शिहिज बूनी,
केंच्रन रंनि छय बर प्यठ हूनी।
केंच्रन रंनि छय अदल त बदल,
केंच्रन रंनि छय ज़दल छाय ॥ १४५ ॥

छायायुक्त चिनारवृक्षकल्पाः काश्चिद्भवन्त्यङ्गनाः,
केषांचित्प्रमदा भ्रमन्ति भुवने कौलेयवृत्ति गताः।
काश्चिच्चापल-र्चाचता नव-नवं पुरुषान्तरं कुर्वते,
काश्चिच्छाया-धर्म-कर्म-कुशलाः साहाय्य मातन्वते ॥ १४५ ॥

कुछ की रानियाँ (पत्नियाँ) छायादार चिनार के पेड़ समान होती हैं, कुछ की पत्नियाँ द्वार पर पड़ी कुत्तियां के समान होती हैं, कुछ की पत्नियाँ अदल-बदल करने (कहा न मानने) वाली होती हैं और कुछ की पत्नियाँ धूप-छाँह की तरह आवश्यकतानुसार सहायक सिद्ध होनेवाली होती हैं ॥ १४५ ॥

ग्रटु छु फेरान ज़ेरि ज़ेरे,
ओह कुय ज़ानि ग्रटुक छल ।
ग्रटु येंलि फेरि तय ज़ांव्युल नेरे,
गूं वाति पानय ग्रटु बल ।। १४६ ।।

शनैः शनैश्चञ्चति चूर्णचक्रिका,तद्भेदविज्ञं वत मध्यकीलकम्
मन्दं चलेच्चक्रदलं यदा तदा, पिष्टं क्षरेत् सूक्ष्मतरं स्वचक्रतः
पतन्ति गोधूम कणाः स्वतस्ततो मध्ये शनैश्चक्रदलद्वये रहो ।
एकं समालम्ब्य सुसाधनाया मचिन्त्यकष्टंलभते परंपदम् ।।१४६।।

चक्की का पाट धीरे-धीरे घूमता है किन्तु अक्ष (मानी-खूंटी) को छोड़ और कोई चक्की के घूमने के रहस्य को नहीं जानता । जब ऊपर का पाट घूमता है तो बारीक आटा निकलता और गेहूँ अपने आप पाटों के करीब आता जाता है । (अनवरत साधना और सहिष्णुता से परम उद्देश्य की प्राप्ति संभव है) ।। १४६ ।।

शिव छुय ज़ांव्युल ज़ाल वाहरांविथ,
क्रंज़न मंज़ छुय तंरिथ क्यथ ।
ज़िन्दु नय वुछहन अदु कति मंरिथ,
पान मंज़ु पान कड़ व्यज़ांरिथ क्यथ ।। १४७ ।।

विस्तीर्य जालं जगति स्थितशिवो
व्याप्तः सदा सर्वशरीर मध्यगः
मृत्यौ स्थिते द्रक्ष्यसि किं, विवेकतो
निभालय त्वं प्रभुमन्तराले ।। १४७ ।।

शिव अपना बारीक जाल बिछाये सर्वत्र व्याप्त है । देखो तो कैसे सबके शरीरों (अस्थि-पंजरों) में रच-पच गया है । यदि तू जीते जी उसको न देख सका तो क्या मर कर उसे देखेगा ? विवेक और आत्म-चिंतन से काम ले और उसे अपने भीतर खोज निकाल ।। १४७ ।।

शिव छुय थलि थलि रोज़ान,
मो ज़ान ह्योंद तय मुसलमान।
त्रुख अय छुख तु पान परज़ान,
सौ छय साहिबस सुत्य ज़ान॥ १४८ ॥

स्थले स्थले शङ्कर एव राजते,
हिन्दू-तुरुष्केषु कथं विभेदः ?
प्रबुध्य स्वात्मान मवेहि सम्यक्
स परिचयस्ते हरिणा समं स्यात्॥ १४८ ॥

शिव थल-थल पर (सर्वत्र) व्याप्त है। (अतः रे मनुष्य ! तू) हिन्दू और मुसलमान में भेद न जान। यदि तू प्रबुद्ध है तो अपने आपको पहचान, यही साहिब (भगवान्) से परिचय करने के बराबर है॥ १४८ ॥

चुय दीवु गरतस तु दरती स्रज़ख,
च्रेय दीवु दितिथ कंज़न प्रान।
च्रुय दीव ठनि रोंस्तुय वज़ख,
कुरु ज़ानि दीव चोन परमान॥ १४९ ॥

देव ! त्वमेव जगतीतल-जीवनस्य
स्रष्टा त्वमेव तस्मिन् कृतपञ्चप्राणः
त्वं शब्दशून्यो दुर्बोध दैव !
तवैव सर्वत्र ध्वनिर्विराजते॥ १४९ ॥

हे देव ! तुम ही इस जीवन और धरती (जगत्) के सृजक हो। तुम ही ने हे देव ! पंचभूतों में प्राण फूंके हैं। हे देव ! यद्यपि तुम ध्वनि-रहित हो किन्तु तुम्हारी ही ध्वनि हर जगह व्याप्त है। हे देव ! तुम्हारा प्रमाण (गति-अवगति) भला कौन जान सका है ? ॥ १४९ ॥

दीशि आयस दश दीशि च़लिथ,
च़ंलिथ च़ोंटुम शुन्य अदु वाव।
शिवुय ड्यूठुम शायि शायि मीलिथ,
शें तु त्रें व्रोपिमस तु शिवुय द्राव॥ १५०॥

चङ्क्रमणं दिक् चक्रेऽस्मिन् कृत्वा देशं स्वमागता,
विदीर्य झंझावातं च निर्जनं च महावनम्।
पञ्चेन्द्रियाणि मनसा वशीकृत्य गुणत्रयम्,
व्यलोकयं शिवं व्याप्तं सर्वत्र जगतीतले॥ १५०॥

मैं दसों दिशाओं में घूम फिरकर अपने देश (अन्तर्जगत्) में लौट आई। इसके लिए मुझे जाने कितने शून्यों और तूफानों को भेदना पड़ा। जब छः (पंचेन्द्रियों व मन) और तीन (त्रिगुणों) को वश में कर लिया तो पाया कि शिव जगह-जगह (सर्वत्र) व्याप्त है॥ १५०॥

शुन्युक मांदान कोंडुम पानस,
मे ललि रूज़ुम न बोंद नु होश।
बेदो सपनिस पानय पानस,
अदु कमि हिलि फोंल ललि पंपोश॥ १५१॥

शून्यं महामार्ग मपारयं यदा,
लल्ला तदाऽहं विस्मृत्य सर्वम्
लब्ध्वा स्वकीयानुभवं मदीया
स्थितिः स्थिता पङ्क विरूढकञ्जवत्॥ १५१॥

जब मैंने शून्य के एक असीम मैदान (क्षेत्र) को पार किया तो मुझ लल को न बुद्धि रही और न होश। तब स्वात्म के भेद को पाकर मेरी स्थिति कीचड़ में उगे कमल जैसी हो गई॥ १५१॥

मिथ्या असथ कपट त्रोवुम,
मनस कोरुम सुय वोपदीश ।
ज़नस अंदर कीवल ज़ोनुम,
अनस ख्यनस कुस छुम द्वीश ॥ १५२ ॥

असत्य-मिथ्याचरणादि हेयं,
मयोपदिष्टं निजमानसं यदा ।
जने-जने केवल मेव दृष्टं,
व्यर्थं तदाऽभूदुपवासकष्टम् ॥ १५२ ॥

मैंने मिथ्याचार, असत्य व कपट को त्यागने का अपने मन को उपदेश दिया तथा प्रत्येक जन में उस 'केवल' को व्याप्त जाना । अत: फिर अन्न खाने से द्वेष क्यों रखूं (व्रतोपवास क्यों करूँ) । (व्रतोपवास से अधिक महत्त्वपूर्ण है मन को शुद्ध रखना) ॥ १५२ ॥

शिशरस वुथ कुस रटे,
कुस बोंके रटे वाव ।
युस पांछ यंदरिय च्यलिथ च्रटे,
सुय रटे गटे रव ॥ १५३ ॥

शिशिरे बर्षतो मेघान्, कः पुमान् वारणे क्षमः
समीरवेगं कः कुर्यात्, स्वकीये मुष्टिबन्धने
पञ्चेन्द्रियाणि संयन्तुं, समर्थः स्यात्तु कश्चन,
अन्धकारे रविं बद्धुं, समर्थः स्यात्तदा नरः ॥ १५३ ॥

शिशिर में बरसनेवाले पानी को भला कौन रोक सका है ? वायु को भला कौन मुट्ठी में बाँध सका है ? जो अपनी पाँच इन्द्रियों को वश में कर सका वह अन्धकार में भी रवि को पकड़ सका ॥ १५३ ॥

सिंहनी ह्रुंद शिकार पांज़ कवु ज़ाने,
हांठ कवु ज़ाने पोतरय दोद।
शमुह्च्य कदुर लंश कति ज़ाने,
मंछ्य कति जाने पोंपुर्य गथ ॥ १५४ ॥

सिंहीवधं किं कुर्याच्छशादनो
बन्ध्या न जानाति प्रसूतिपीडाम्
नहि काचदीपस्य तुला ह्यलातके
न मक्षिकायां शलभस्य योग्यता ॥ १५४ ॥

सिंहनी का शिकार करना भला बाज क्या जाने ? बाँझ भला पुत्र-पीड़ा क्या जाने ? शमा की कद्र भला मशाल क्या जाने और शलभ की गति भला मक्खी क्या जाने ? ॥ १५४ ॥

लंराह लंज़ुम मंज़ मांदानस,
अंद्य अंद्य कंरिमस तंकियि तु गाह।
सौ रोज़ि येत्य तय बौ गछु पानस,
वोन्य गव वानस फालव दिथ ॥ १५५ ॥

अकारि गेहं शुभ-सज्जितं परं,
विचिन्तितं हा! तदिहैव हास्यते।
अहं गमिष्यामि तथैव सर्वथा,
यथा वणिक् पण्यगृहं पिधास्यति ॥ १५५ ॥

बीच मैदान में मैंने एक मकान बनाया। उसको चारों ओर से अच्छी तरह सजाया-संवारा। (मगर, अफसोस!) वह मकान यहीं रह जाएगा और मैं चली जाऊँगी मानो दुकानदार दुकान बंद करके चला जाए ॥ १५५ ॥

सोंयि कुल नो दोंद् सृति संगिज़े,
सरपिनि ठूलन दीज़ि नो फाह् ।
स्यकि शाठस फल नो वंविज़े,
रावुरिज़ि नु कोंम याज्यन तील ।। १५६ ।।

सिञ्च नो कदापि त्वं, पयसा वृश्चिकौषधिम्,
सर्पिण्या नाण्डमासेव, न वापं वालुका-सृतौ ।
बुसस्य शाक-निर्माणे न तैलं नाशयेत् सुधीः,
दुःखवृद्धिर्भवेद् येन, न कुर्यात् तद् विचारवान् ।। १५६ ।।

बिच्छू बूटी को दूध से कभी सींचना नहीं, सर्पिणी के अंडों को कभी सेना नहीं, बालू के सेतु पर कभी बीज बोना नहीं तथा भूसी के रोटले (खताई) पर कभी तेल बर्बाद करना नहीं ।। १५६ ।।

मूडस ग्यानुच कथ नो वंनिज़े,
खरस गोर दिनु रावी दोंह् ।
युस युथ करे सु त्युथ सोंरे,
क्रेरे कंरिज़ि नु पनुन पान ।। १५७ ।।

मूढाय नोपदेष्टव्यं, गर्दभाय गुडार्पणम्,
यथाकर्म तथा भोगस्तत्रात्मानं न पातयेत् ।। १५७ ।।

मूढ़ को ज्ञान की बात कभी कहना नहीं, गधे को कभी गुड़ खिलाना नहीं । जो जैसा करेगा सो वैसा भरेगा, तू व्यर्थ अपने को कुएँ में ढकेलना नहीं ।। १५७ ।।

आरस नेरि नु मौदुर शीरय,
निरवीरस नेरि न शूरा नाव।
मूरखस प्रनुन छुय हंस्यतिस कशुन,
यसो मालि दांदस ब्यहा व्राव ॥ १५८ ॥

मधूरसो रक्तफलान्न लभ्यते,
न कातरः शूर पदेन शस्यते,
न मूर्खबोधः प्रगुणाय कल्पते,
वीर्येण हीनो वृषभो निरर्थकः ॥ १५८ ॥

आलूबुखारे से कभी मीठा रस निकलेगा नहीं, निर्वीर्य का नाम कभी शूर कहलाएगा नहीं, मूर्ख को समझाना हाथी को खुजलाने के समान (व्यर्थ) है वैसे ही जैसे आलसी बैल से काम लेना कठिन है ॥ १५८ ॥

बबरि लंगस मुशुक नो मरे,
हूनि बस्ति कोफूर नेरि नु जाँह।
मनु यींद ग्वारुहन फेरिय ज़ेरे,
न तु शालुटुंगे नेरिय क्याह ॥ १५९ ॥

लतायां बबरिख्यातायां सुगन्धो राजते सदा,
सारमेये न लभ्येत, कर्पूरामोदमाधुरी।
ध्यान-मग्नमना भूत्वा, तन्मार्गणरतो भव,
भविष्यति शिव प्राप्तिः, शृगाल-भषणेन किम् ॥ १५९ ॥

रेहान (पुष्प-विशेष) की लता से कभी सुगंध नहीं जाती और कुत्ते की खाल से कभी कर्पूर की सुवास नहीं आती। (रे मनुष्य ! तू) यदि ध्यान-मग्न होकर उसको ढूँढे तो तुझे परमशिव की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा गीदड़ की तरह चिल्लाने से कोई लाभ नहीं है ॥ १५९ ॥

आयस ति स्योंदुय तु गछु ति स्योंदुय,
सोंदिस होंल मे कर्यम क्याह।
बो तस आसुस आगरय व्यंज़ुय,
व्यदिस तु व्यंदिस कर्यम क्याह॥ १६०॥

समागता सरलमनास्तथैव,
गन्तास्म्यहं सरलस्वभावरक्ता
किं मे करिष्यति शठः शिवज्ञातभावा,
किंवा शिवोऽपि कुर्यान्मम निर्भयायाः॥ १६०॥

मैं सीधी ही आई थी और सीधी ही जाऊँगी भी (अर्थात् जन्म से ही मैंने सरल स्वभाव अपनाया और अन्तकाल तक इसी सरल स्वभाव को अपनाऊँगी) मुझ सीधी को भला टेढ़ा (शठ स्वभाववाला) क्या करेगा ? वे (परब्रह्म) तो मुझे प्रारंभ से ही जानते-पहचानते हैं अतः मुझ जानी-पहचानी का वे भी भला क्या कर सकेंगे ? (अर्थात् अपनी सहज सरलता के कारण मैं निर्भय हो चुकी हूँ)॥ १६०॥

अंदर आसिथ न्यबर छ्योंडुम,
पवनन रगन कंरनम सथ।
द्यानु किन्य दय ज़गि कीवल ज़ोनुम,
रंग गव रंगस मीलिथ क्यथ॥ १६१॥

अन्तस्स्थितस्य देवस्य बहिरन्वेषणं कृतम्।
प्राणायाम-प्रयासेन, तस्यावाप्तिर्मया कृता।
ध्यानयोगेन प्राप्ताऽहं, कैवल्यपद दुर्लभम्,
तेन मे रूपसौभाग्यं, तस्य रूपेण संगतम्॥ १६१॥

वे मेरे अन्दर थे मगर मैं उन्हें बाहर ढूंढती रही। तब (प्राणायाम द्वारा) मुझे अपनी रगों के माध्यम से साँत्वना मिली और ध्यानादि योग-क्रिया से इस जगत् की कैवल्य सत्ता को जान लिया। परिणामस्वरूप मेरा रंग (जगत् के) रंग से मिल गया॥ १६१॥

कुस हा मालि लूसुय नु पकान पकान,
कुस हा मालि लूसुय नु वौलगान सुमीर।
कुस हा मालि लूसुय नु मरान तु ज़्यवान,
कुस हा मालि लूसुय नु करान न्यंद्या ॥ १६२ ॥

हा ! को न श्रान्तो मार्गप्रयाणे,
हा ! को न श्रान्तोहि सुमेरु-लङ्घने
हा ! को न श्रान्तो मरणादिचक्रे,
हा ! को न श्रान्तोहि परस्य निन्दया ॥ १६२ ॥

कौन चलते-चलते थका नहीं ? कौन सुमेरु पर्वत को लाँघते-लाँघते थका नहीं ? कौन जन्म-मरण के चक्कर से थका नहीं ? और कौन दूसरों की निंदा करते-करते थका नहीं ? ॥ १६२ ॥

ज़ल हा मालि लूसुय नु पकान-पकान,
सिरयि लूसुय नु वौलगान सुमीर।
च़न्द्रम लूसुय नु मरान तु ज़्यवान,
मनुष्य लूसुय नु करान न्यंद्या ॥ १६३ ॥

जलं न श्रान्तं हि प्रवाह मार्गे,
सूर्यो न श्रान्तो हि सुमेरु-लंघने
चन्द्रो न श्रान्तो मरणादिचक्रे
नरो न श्रान्तो हि परस्य निन्दया ॥ १६३ ॥

जल चलते-चलते थका नहीं, सूर्य लाँघते-लाँघते थका नहीं, चन्द्रमा मरते-जन्मते थका नहीं और मनुष्य निंदा करते-करते थका नहीं ॥ १६३ ॥

कुस बब तय कौंसु मांजी,
कंमी लांजी बांजी बठ ।
कांल्य गछ्ख कांह् ना बब मांजी,
ज़ांनिथ कवु लांजिथ बांजी बठ ।। १६४ ।।

कस्ते पिता का जननी तवास्ति,
केनापि साकं कथमस्ति संगमः ।
विहाय सर्वं गमनं भवेद् यदा,
न कापि माता जनको न कश्चित् ।। १६४ ।।

कौन तेरा बाप और कौन तेरी माँ ? किसके साथ तू सम्बन्ध जोड़ रहा है ? कल तू यहाँ से चला जायगा और फिर तेरा न कोई बाप होगा और न माँ । यह सब जानकर तू (व्यर्थ के) सम्बन्ध क्यों जोड़ रहा है ? ।। १६४ ।।

कांली सथ कौंल गछ्न पातांली,
अकांली ज़ल मालु वरशन प्यन ।
मानस टांक्य तय मसकिय प्यांली,
ब्रह्मन तु च्रांली इकवटु ख्यन ।। १६५ ।।

तादृक् कुकालोहि समागमिष्यति,
रसातलं यास्यति सप्तलोकी ।
अकालवृष्टिर्जगतीतले भवेत्,
चाण्डालवद् ब्राह्मण-भोजनं भवेत् ।। १६५ ।।

ऐसा कुकाल आएगा कि (पृथ्वीलोक पर बढ़ रहे पापाचार के कारण) सातों लोक रसातल में चले जाएँगे । तब असमय वृष्टि होगी और ब्राह्मण व चांडाल एक साथ मांस-मदिरा का सेवन करेंगे ।। १६५ ।।

अटनुच सन दिथ थावन मटन,
लूब बौंछि बोलन ग्यानुच कथ।
फंट्य फंट्य नेरन तिम कति वटन,
तुकय मालि छुख पूर कड पथ ॥ १६६ ॥

ये छद्मवेषाः स्थित चौरवृत्तयः
प्रदर्शने ज्ञान कथाऽभिभाषिणः
प्राप्यं न किञ्चिन्मम सन्निधानात्
प्रबुद्ध ! दूरात् त्यज पापचारिणः ॥ १६६ ॥

कुटिल व छद्मवेषी इधर का माल चुराकर उधर कर देते हैं और ऊपर से (मारे लोभ के) ज्ञान की बातें बखानने का स्वाँग रचते हैं। ऐसे लोग मिथ्या-प्रदर्शन खूब करते हैं, वे भला इससे पाएँगे क्या ? यदि (रे मनुष्य !) तू प्रबुद्ध है तो ऐसे मिथ्याचार से पग पीछे हटा ले ॥ १६६ ॥

संसारु नांम्य तांव तंत्रुय,
मूडन किञुय तावुनु आये।
ग्यान मुद्रा छय यूगियन किञुय,
सु यूगु कलि किन परजनु आये ॥ १६७ ॥

तप्तमृजीषं विश्वाख्यं, मूढानां कृते सदा
ज्ञानरूपं तदेवास्ति, योगिनां विदितात्मनाम् ॥ १६७ ॥

संसार नाम का यह तवा मूढ़ों के लिए तपाया गया है मगर ज्ञान-मुद्रा योगियों (प्रबुद्धों) के लिए है जो योगकला द्वारा संसार के माहात्म्य को पहचान लेते हैं ॥ १६७ ॥

सोबूर छुय ज़्युर मरुञ्ज तु नूनुय,
ख्यनु छुय ट्चोठ तु खेयस कुस ।
सोबूर छुय सौनु सुंद टूरुय,
मौल छुय थोद तु हेयस कुस ॥ १६८ ॥

विषयिणां भाति सन्तोषः, कटुतिक्तादिखाद्यवत्
तुल्यं सुवर्णपात्रेण, कस्तं मूल्येन क्रेष्यति ? ॥ १६८ ॥

सब्र (सहिष्णुता) जीरा, मिर्च और नमक के समान (कड़वा) है जो खाने में कड़ुआ लगता है। सब्र सोने की थाली है, जिसका मूल्य ऊँचा है, अतः इसे खरीदेगा कौन ? (सहिष्णुता का गुण कष्टसाध्य और दुर्लभ है, इसके लिए बड़े से बड़े त्याग की आवश्यकता है) ॥ १६८ ॥

साहेब छु बिहिथ पानय वानस,
सारिय मंगान केंछाह दि ।
रौंट नो कांसि हुंद रांछय नो वानस ।
यि त्रे गछिय ति पानय नि ॥ १६९ ॥

स्वामी स्वयं पण्यगृहं विधाय,
स्थितस्ततो याचन-तत्परा जनाः
न तत्र कस्यापि निषेध-बाधा
नयस्व यद् वाञ्छसि त्वं सदैव ॥ १६९ ॥

साहिब (ईश्वर) स्वयं दुकान लगाये बैठे हैं। सभी उससे कुछ मांग रहे हैं। (रे मनुष्य !) वहाँ किसी की रोक-टोक नहीं है। तुझे जो भी चाहिए स्वयं उठाकर ले जा ॥ १६९ ॥

संसारस मंज़ बाग कथ शायि रोज़य,
रोज़ि परम शिव शंबू अघूर।
लौलि मंजबाग बोय ललनावन,
जिगरस मंज़बाग करस गूर गूर ॥ १७० ॥

तिष्ठानि विश्वेऽस्मिन् कुत्र, यस्मा-
दघोर-शम्भुः सर्वत्र राजते।
आन्दोलयिष्यामि तमेव क्रोडे,
प्राणेन साकं मृदु लालयामि ॥ १७० ॥

अब मैं इस संसार में भला किस जगह रहूँ क्योंकि यहाँ तो हर-एक स्थान पर परमशिव अघोर शंभु रहते हैं। अतः मैं तो उसी को गोदी में लेकर झुलाऊँगी तथा जिगर से लगाकर डुलाऊँगी ॥ १७० ॥

दोद क्या ज़ानि यस नो बने,
गमुक्य जामु हा वंलिथ तने।
गरु गरु फीरुस प्ययम कने,
ड्यूठुम नु कांह ति पननि कने ॥ १७१ ॥

यस्योपरि स्यान्नच दुःखपातः
परस्य पीडां स कथं हि विद्यात्।
कष्टावृतायां मयि प्रस्तराहति,
नं कोऽपि जातो मयि सानुकम्पः ॥ १७१ ॥

जिस पर दुःख न पड़ा हो, वह भला दर्द (की पीड़ा) क्या जाने ? ग़म के वस्त्र पहनकर मैं घर-घर फिरी और मुझपर पत्थर बरसे तथा किसी को भी मेरा पक्ष लेते हुए न देखा ॥ १७१ ॥

ओरु ति पानय योरु ति पानय,
पोंत वाने रोज़ि नु ज़ांह।
पानय गुप्त तु पानय ग्यानी,
पानय पानस मूद नु कांह॥ १७२॥

इतस्ततोऽसौ सर्वत्र दृश्यते,
न लुप्यते दृष्टिपथे कदाचित्
गुप्तोऽपि ज्ञाता सर्वस्य मध्ये
स एव सर्वामरचक्रवर्ती॥ १७२॥

उधर भी वही और इधर भी वही (अर्थात् जिधर भी नजर जाती है, उधर वही दिखते हैं) वह कभी पीछे रहने (छिपने) वाले नहीं हैं। वह स्वयं गुप्त भी है और ज्ञानी भी। वह कभी मरा नहीं—अमर है॥ १७२॥

आसुस कुनिय तय सांपनिस स्यठा,
नज़दीख आसिथ गंयस दूर।
बाहिर बातिन कुनुय ड्यूठुम,
गंयम ख्यथ-च्यथ त्रुवंज़ाह त्रूर॥ १७३॥

एकापि दृश्येऽह मनेकरूपा
पार्श्वस्थिता! तस्य तथापि दूरम्।
कृत्वा हि मां दूरतरं गतं हा!,
चत्वारि पञ्चाशच्चौरमण्डलम्॥ १७३॥

मैं एक थी मगर अनेक बन गई। (उनके) नजदीक होकर भी दूर रही। बाहर-अन्दर एक ही (शिव) तत्व मुझे दिखा था (जिसे प्राप्त करने के लिए मैं ध्यान-मग्न हो गई) किन्तु ये चौपन चोर (पंचेन्द्रियाँ, आवेग, विकार आदि) सब कुछ खा-पीकर मुझे धोखा देकर चले गये॥ १७३॥

अज़पा गायत्री हंसु हंसु ज़पिथ,
अहम त्राविथ सुय अदु रठ।
यॆम्य त्रोव अहम सुय रूद पानय,
बो न आसुन छुय वोंपदीश ॥ १७४ ॥

मनसाऽनुश्वासं जप हंस-हंस–
महं-विमुक्तो कुरु ब्रह्मचिन्तनम्
अहं-विरक्तो हि रम स्वरूपे
तवानुरूप उपदेश एषः ॥ १७४ ॥

(रे मनुष्य ! तू) अजपा गायत्री मंत्र का अपनी प्रत्येक सांस में जाप कर। अहं को छोड़कर उस (ब्रह्म-तत्व) को धारण कर। जिसने अहं को त्याग दिया वही स्व (आत्मभाव) के रूप में स्थिर रहा। उपदेश की बात भी यही है कि 'मैं' को अस्थायी मान ले ॥ १७४ ॥

दमु दमु ओमकार मन परनोवुम,
पानय परान तु पानय बोज़ान।
सूहम पदस अहम गोलुम,
तॆलि लल बो वा़त्रुस प्रकाश स्थान ॥ १७५ ॥

ओङ्कार-पाठं मनसे प्रतिक्षणं
प्रशिक्षयन्ती स्वयमेव शिक्षिता।
'सोऽहं' पदं प्राप्य विमुक्तमाना,
लल्लाऽहमाकाशगतं प्रपन्ना ॥ १७५ ॥

इस मन को प्रतिपल ऊँकार पढ़ाती रही, स्वयं पढ़ाती रही और स्वयं ही सुनती भी रही। 'सोऽहम्' पद को प्राप्त करने के लिए 'अहम्' को गला दिया तब कहीं जाकर मैं लल प्रकाश-स्थान तक पहुँच सकी ॥ १७५ ॥

यि क्याह् आसिथ यि कुस रंग गोम,
बेरंग करिथ गोम लगु कमि शाठय।
तालव राज़दानि अबख छान प्योम,
जान गोम ज़ान्यम पनु नुय पान॥ १७६॥

काऽऽसं पुनः सम्प्रति काहि जाता,
स्थिता सदा 'तालव राजदानि'वत्।
वशीकृता 'अवखछान' समेन स्वात्मना,
किं भाविमेऽत्र विषये मन एव विद्यात्॥ १७६॥

मैं क्या थी और क्या हो गई। (परमात्मा का ही एक अंश थी किन्तु जन्म लेकर जाने यह किस रंग में रंग गई।) यह मेरा मन मुझे बेरंग बना के छोड़ गया, अब पता नहीं किस ठौर बहाकर पटक देगा। मैं तालवराज़दानि[1] जैसी (संयमी और दृढ़-प्रतिज्ञ) थी किन्तु इस अबख-छान[2] रूपी मन ने मुझे मुग्धकर वश में कर लिया। अब मेरा आगे क्या हाल होगा, अच्छा होगा कि बुरा, मेरा दिल ही जानता है॥ १७६॥

करुम ज़ु कारन त्रे कौंमबिथ,
यवु लबख परुलूकस अंख।
वौथ खस सिरी मंडलस च्रौंमबिथ,
तवय च्रली मरवुन्य शंख॥ १७७॥

द्विविधं कर्म जानीयात्, त्रिविधं कारणं मतम्
समाहर कुम्भकेनैव, प्राप्यते परमं पदम्।
उत्तिष्ठोद्यतो भूत्वा भित्वा सूर्यस्य मण्डलम्,
अनेन विधिना सर्वं, मरणादि तव नंक्ष्यति॥ १७७॥

कर्म दो तरह के (सत् और असत्) तथा कारण तीन तरह के होते हैं। रे जीव! तू कुंभक-योग से सबका समाहार कर जिससे तुझे परलोक में परम-पद की प्राप्ति होगी। तू उठ और सूर्यमंडल को पार कर परमगति को प्राप्त करने के लिए उद्यत हो। इसी से तेरा मरण-भय भी दूर हो जाएगा!॥ १७७॥

१, २ एक कश्मीरी लोककथा के पात्र।

मद प्योंवुम स्यंदु ज़लन येंती,
रंगन लीलंम्य कोंम्य कांत्र ।
कुत्य खेंयम मनुश्य मामसुक्य नंली,
सोंय बों लल तु गव मे क्याह ।। १७८ ।।

अध्यागताऽहं बहुजन्मजातं
पीतंमया सिन्धुजलं प्रभूतम् ।
मांसादनं वहुविधा लीलाव्यधायि
पश्चाच्च चिन्तनपरा तदभिन्नरूपा ।। १७८ ।।

मैंने कई जन्म लिये, कभी छककर सिन्धु का जल पिया, कभी संसार के रंगमंच पर तरह-तरह की लीलाएँ कीं, कभी मांस आदि का भी भक्षण किया—मगर अंततः पाया कि मैं तो वही लल हूँ फिर यह आवागमन का चक्र कैसा ? ।। १७८ ।।

मंरिथ पंत्रबूथ तिम फल हंदे,
त्रेतनु दानु वोंखुर ख्यथ ।
तवय ज़ानख परमु पद छांडि,
हिशी खोशि खोंर कोंह ति नु ख्यथ ।। १७९ ।।

अस्मिन्नहो भौतिक कायमध्ये
स्थितंहि पञ्चेन्द्रिय - मेष - वृन्दम्
तस्मै त्वया ज्ञान-कणास्तु देया
हत्वा पुनर्दिव्यपदं प्रयाति ।। १७६ ।।

रे व्यग्र प्राणी ! अपनी पंचभूत काया में स्थित पंचेन्द्रियों रूपी मेषों (नर भड़ों) को तू अध्यात्म-ज्ञान का दाना (खाद्य) खिला और तत्पश्चात् उनका वधकर । इसी से तुझे परम-पद की प्राप्ति हो जाएगी, अन्यथा ऐसा न करने पर कोई लाभ न होगा ।। १७९ ।।
